

---

ISSN 0975-850X

# अनुसंधान शोध त्रैमासिक

वर्ष : 5, अक्टूबर-दिसम्बर 2014

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त  
केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली से सहयोग प्राप्त

---

सम्पादक

डॉ. शगुफ़ता नियाज़

सलाहकार सम्पादक

डॉ. एम. फ़ीरोज़ अहमद

अनुसंधान पत्रिका अब इंटरनेट पर भी उपलब्ध [www.vangmay.com](http://www.vangmay.com)

## परामर्श मण्डल

प्रो. रामकली सराफ (बी. एच. यू.)  
मूलचन्द सोनकर (वाराणसी),  
डॉ. मेराज अहमद (अलीगढ़)

## सम्पादकीय कार्यालय :

205- ओहद रेजीडेंसी, नियर पान वाली कोठी, दोदपुर रोड, सिविल लाइन, अलीगढ़-202002  
[vangmaya@gmail.com](mailto:vangmaya@gmail.com), [shaguftaniyaaz@gmail.com](mailto:shaguftaniyaaz@gmail.com)  
Mob- 09044918670

सहयोग राशि : एक प्रति 40 रु.

व्यक्तिगत पाँच वर्ष के लिए : 1000/-, द्विवार्षिक शुल्क संस्थाओं के लिए : 500/-, व्यक्तिगत आजीवन सदस्य  
: 2000/- (दस वर्ष के लिए), संस्थाओं के लिए आजीवन : 2500/- (दस वर्ष के लिए)

---

**सह-सम्पादक :**

विनीत कुमार (अलीगढ़)  
सलीम मुजावर (गुलबर्गा)

**कानूनी सलाहकार :**

एम. एच. खान, एडवोकेट(हाईकोर्ट, इलाहाबाद)  
एम. ए. खान, एडवोकेट(हाईकोर्ट, इलाहाबाद)

**सम्पादन सहयोग :**

यूसुफ अली (अलीगढ़)

**सम्पादन/संचालन :**

अनियतकालीन, अवैतनिक और अव्यावसायिक।  
रचनाकार की रचनाएँ उसके अपने विचार हैं।  
रचनाओं पर कोई आर्थिक मानदेय नहीं दिया जाएगा।  
लेखकों, सदस्यों एवं मित्रों के आर्थिक सहयोग से पत्रिका प्रकाशित होती है।  
उनसे सम्पादक-प्रकाशक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।  
किसी भी विवाद के लिए न्याय क्षेत्र अलीगढ़ होगा।  
अलीगढ़ से बाहर का चेक स्वीकार नहीं होगा।

**शुल्क भेजने का पता :**

**मनीआर्डर या बैंक ड्राफ्ट :** 'डॉ. शगुफ़्ता नियाज़' या 'अनुसंधान' के नाम  
205- ओहद रेजीडेंसी, नियर पान वाली कोठी, दोदपुर रोड, सिविल लाइन, अलीगढ़-202002 (उ.प्र.)

डॉ. शगुफ़्ता नियाज़ की ओर से डॉ. शगुफ़्ता नियाज़ द्वारा प्रकाशित, डॉ. शगुफ़्ता नियाज़ द्वारा मुद्रित तथा रुचिका प्रिंटर्स दिल्ली में मुद्रित एवं **बी-4, लिबर्टी होम्स, अब्दुल्लाह कॉलेज रोड, अलीगढ़-202002** से प्रकाशित।

---

## सम्पादकीय

इस बार अनुसंधान पत्रिका में पहली बार एक पुस्तक पर पाँच आलेख प्रस्तुत किया जा रहा है। शम्सुर्रहमान फ़ारुकी कृत सवार और दूसरी कहानियाँ हैं। इस पुस्तक में पाँच कहानियाँ हैं। इस पत्रिका में उनकी पुस्तक पर एक समीक्षा प्रस्तुत की गई है और चार कहानियों पर आलोचनात्मक आलेख प्रस्तुत किया गया है। एक कहानी पर लेख रह गया है, उसको किसी अन्य अंक में प्रस्तुत किया जाएगा।

शम्सुर्रहमान फ़ारुकी की कहानियों का ऐतिहासिक अध्ययन सरिता शर्मा द्वारा समीक्षा प्रस्तुत की गयी है, विद्वानों की माने तो... अगर इतिहास को कहानियों के रूप में पढ़ाया जाए तो वो कभी भी विस्मृत नहीं होगी। ग़ालिब अफ़साना, सवार, इन सोहबतों में आखिर, आफ़ताब-ए-जर्मी और लाहौर की एक घटना, इन पाँचों कहानियों के ज़रिए फ़ारुकी साहब ने भारतीय इतिहास के गुज़रे दौर की हिंदू-मुस्लिम की मिली-जुली संस्कृति की तस्वीर पेश की है। इन कहानियों में अठारहवीं सदी की भारतीय संस्कृति को उकेरा गया है जो हिंदुस्तान के इतिहास का सबसे बड़ा संक्रमण काल था। मिर्ज़ा ग़ालिब और मीर तक़ी मीर जैसे शायरो के ज़रिए तत्कालीन हिंदुस्तानी तहज़ीब को उभारने का प्रयास दिखाई देता है।

मूलचंद सोनकर का आलेख “ग़ालिब अफ़साना एक आम आदमी की नज़र में” है। हिंदी जगत हो या उर्दू, ग़ालिब की लोकप्रियता उनकी उर्दू शायरी के कारण है। ‘ग़ालिब अफ़साना’ वास्तव में इसके कथावाचक वेणीमाधव रूसवा और ग़ालिब के बीच तीन दिन तक चले संवाद का विवरण है। सोनकर जी ने इस कहानी को बड़े रचनाकार की छोटी रचना माना है।

डॉ. मेराज अहमद का आलेख ‘सवार : उत्तर मुगलकालीन दिल्ली की उपनिवेश छवि का प्रतिरोध’ है। लेखक ने फ़ारुकी साहब के आलोचना कर्म की विशेषताओं को बताते हुए, सवार और दूसरी कहानियाँ तथा उपन्यास ‘कई चाँद थे सरे आसमाँ’ के सृजन के पीछे का वास्तविक कारण उपनिवेशवादी

विचारकों, इतिहासकारों और उनके समर्थकों द्वारा रचे गए मिथ को और उसकी वास्तविकताओं को उद्घाटित किया गया है।

डॉ. नग़मा जावेद मलिक का आलेख ‘आफ़ताब-ए-जर्मी : एक मूल्यांकन’ है जिसमें लेखिका ने आफ़ताब-ए-जर्मी में इतिहास की झिलमिलाती सच्चाइयों को बड़े बाँकपन से सजाया गया है। इसमें उस समय का यथार्थ और कलमकार दोनों आंहग है। कल्पना के बिखरे मोतियों ने आख्यान को एक नई आब-ओ-ताब दी है। लेखिकानुसार आफ़ताब-ए-जर्मी एक काल-खंड का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक यथार्थ है जो इस रचना को मूल्यवान बनाती है।

‘लाहौर की एक घटना’ के मिस शम्सुर्रहमान फ़ारुकी के कहानीकार की परख करते हुए डॉ. प्रेमकुमार जी ने कई साहित्यकारों के निकट जाकर उनकी नज़र से भी फ़ारुकी साहब की शख्सियत को जांचा-परखा है और अनुभव किया है कि ‘लाहौर की एक घटना’ समाज की नहीं व्यक्ति विशेष के स्वप्न और उसके संकट से जुड़ी कहानी है।

भारतीय सामाजिक संस्कृति विश्व बंधुत्व का आधार में डॉ. अमानउल्ला ख़ाँ ने सामासिक संस्कृति के अन्तर्गत धार्मिक क्षेत्र में समन्वयवाद पर विशेष बल दिया है। संस्कृति एक ऐसा विराट तत्त्व है जिसमें सभी कुछ समाविष्ट हो जाता है।

आधुनिक हिंदी कवियों की दृष्टि में ग्राम्य जीवन डॉ. ममता सिंह का आलेख है। जिसमें कवियों ने अपने काव्य में गाँव के उज्ज्वल पक्ष को उकेरा है। मैथिलीशरण गुप्त, पन्त दिनकर के काव्य के माध्यम से लेखिका ने गाँव का आत्मनिर्भर व कर्मशील रूप में प्रस्तुत किया है।

अनिल कुमार ने अशोक वाजपेयी गहन अनुभूतियों का कवि नायक आलेख में अशोक वाजपेयी की कविताओं में व्यक्त विशेषताओं, आत्मनिष्ठता, सौंदर्य बोधात्मक मौलिक तथा रचनाधर्मिता का समग्र अनुभव है। अशोक वाजपेयी की

कविताएँ अपने समय और समाज के यथार्थ के प्रति सजग है।

मोनिका अरोड़ा का आलेख 'गणित का महत्त्व' नामक शीर्षक में लेखिका ने गणित को मानसिक और बौद्धिक मानते हुए उसे व्यवहारिक जीवन से भी अनुस्यूत किया है और गणित का संबंध ज्योतिष, भौतिक विज्ञान, लोकतंत्र, जीव विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि से जोड़ा है।

इंद्रजीत पासवान का आलेख- 'वैश्विक परिदृश्य में हिंदी की अस्मिता' है जिसमें उन्होंने हिंदी के वैश्विक रूप को प्रस्तुत किया है जिसमें प्रशासन, सूचना, प्रौद्योगिकी, व्यवसाय, वाणिज्य, इंटरनेट, विज्ञापन, अनुवाद कला, प्रिंट मीडिया, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया आदि संसाधनों में भी हिंदी की पैठ को उजागर किया गया है।

अंकित का आलेख 'अस्तित्ववाद के संदर्भ में 'अंधा युग' में अस्तित्ववाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसके भेद, व्यक्ति महत्त्व, अस्तित्वबोध, धर्म और अध्यात्म संबंधी मान्यताएं, क्षण की महत्ता, दुख एवं मृत्यु की अनिवार्यता, मूल्यों का विषय, संत्रास, श्रम व अकेलेपन को अंधा युग के परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित किया गया है।

मुहम्मद रफी का आलेख 'समकालीन स्त्री-विमर्श : एक अध्ययन' है जिसमें स्त्री की वर्तमान परिस्थितियों पर

चिंता व्यक्त की गयी है।

सोनिया सोहल का आलेख में "प्रवासी साहित्य में नारी-मॉरीशस के संदर्भ में" मॉरीशस को नारी जो कि दो भागों में विभक्त थी प्रथम वर्ग फ्रेंच व इंग्लैंड, दूसरा वर्ग भारत और अफ्रीका से आए परिवारों की नारियाँ। लेखिका ने निकट से उस पीढ़ा को बड़ी बेबाकी से उकेर कर प्रस्तुत किया है।

सुशील कुमार के आलेख में आधा गाँव उपन्यास का समाज-बोध में राही मासूम रज़ा के सभी उपन्यासों के बारे में बताते हुए आधा गाँव के महत्त्व को सामाजिक संदर्भ में व्याख्यायित किया है।

जय प्रकाश पाण्डेय का आलेख 'रीति स्वच्छंद काव्य की आधुनिकता : एक दृष्टि' में रीतिकाल की स्वच्छंद काव्य का आधुनिकतावादी पक्ष को उठाया गया है और धनानंद के माध्यम से स्पष्ट किया गया है।

अंकुश गौतम का आलेख सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में स्त्री में उनके तीनों नाटक सेतुबंध, विदूषक एवं द्रौपदी अद्यतन प्रकाशित रति का कंगन में अभिव्यक्त स्त्री-पुरुषों के संबंधों की व्याख्या प्रस्तुत की है।

**शगुफ़ता**

**उपलब्ध**

**वाङ्मय पत्रिका, अलीगढ़**

**वाङ्मय पत्रिका का आदिवासी विशेषांक-1 और 2  
प्रकाशित।**

**मूल्य- 320 रुपए रजि. डाक से**

**सम्पर्क- 205- ओहद रेजीडेंसी, नियर पान वाली कोठी, दोदपुर रोड, सिविल लाइन,**

**अलीगढ़-202002, मोबाइल नं. 09044918670**

**आदिवासी विशेषांक-3, दिसम्बर 2014 में प्रकाशित होगा।**

---

## अनुक्रम

### सम्पादकीय

**सरिता शर्मा** : इतिहास के गलियारे में : शम्सुर्रहमान फ़ारुकी की कहानियाँ/6

**मूलचंद सोनकर** : ग़ालिब अफ़साना : एक आम आदमी की नज़र से /8

**डॉ. मेराज अहमद** : सवार : उत्तर मुगलकालीन दिल्ली की उपनिवेश छवि का प्रतिरोध/16

**डॉ. नगमा जावेद मलिक** : आफ़ताब-ए-जर्मी : एक मूल्यांकन/24

**प्रेमकुमार** : 'लाहौर की एक घटना' के मिस शम्सुर्रहमान फ़ारुकी के कहानीकार की परख/33

### डॉ. अमानउल्ला ख़ाँ

भारतीय सामाजिक संस्कृति : विश्व बंधुत्व का आधार/43

### डॉ ममता सिंह

आधुनिक हिंदी कवियों की दृष्टि में ग्राम्य जीवन/47

### अनिल कुमार

अशोक वाजपेयी : गहन अनुभूतियों का कवि/50

### मोनिका अरोड़ा

गणित का महत्त्व/54

### इंद्रजीत पासवान

वैश्विक परिदृश्य में हिंदी की अस्मिता/56

### अंकित

अस्तित्ववाद के संदर्भ में 'अंधा युग'/58

### मुहम्मद रफी

समकालीन स्त्री-विमर्श : एक अध्ययन/63

### सोनिया सोहल

प्रवासी साहित्य में नारी-मॉरिशस के संदर्भ में/65

### सुशील कुमार

'आधा गाँव' उपन्यास का समाज बोध/67

### जय प्रकाश पाण्डेय

रीति स्वच्छंद काव्य की आधुनिकता : एक दृष्टि/71

### अंकुश गौतम

सुरेंद्र वर्मा के नाटकों में स्त्री/75

## इतिहास के गलियारे में : शम्सुर्रहमान फ़ारुकी की कहानियाँ

सरिता शर्मा

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखी साहित्यिक रचनाएं पाठकों को अतीत के कालखंड में ले जाती हैं। रुडयार्ड किपलिंग के अनुसार, 'अगर इतिहास को कहानियों के रूप में पढ़ाया जाये तो उसे कभी भी भुलाया नहीं जायेगा।' विलियम हेनरी हडसन ने लिखा है- 'कहानी-उपन्यास में सब कुछ सत्य होता है-बस, नाम और तिथियाँ सत्य नहीं होती किन्तु इतिहास में कुछ भी सत्य नहीं होता-बस, नाम और तिथियाँ ही सत्य होती हैं।' इतिहास राष्ट्र का जीवन-वृत्त है, जबकि साहित्य राष्ट्र की आत्मकथा है। ऐतिहासिक कहानी इतिहास और साहित्य को जोड़ने वाली कड़ी है। अच्छी ऐतिहासिक कहानी की विशेषता ही यह है कि जिस समय की वह कहानी है, पाठक अपने को भी उसी समय के वातावरण में समझने लगे। उसे वह कहानी सामने घटती हुई-सी जान पड़े। जयशंकर प्रसाद, वृंदावन लाल वर्मा, आचार्य चतुरसेन शास्त्री और प्रेमचंद ने अनेक ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी हैं। ख्वाजा हसन निजामी ने 'बेगमात के आंसू' में दिल्ली के शाही खानदान पर सन् 1857 के संग्राम में जो कुछ बीती, उसकी दर्दनाक कहानियाँ लिखी हैं।

शम्सुर्रहमान फ़ारुकी को उर्दू में आधुनिकतावादी आंदोलन के अग्रणी लोगों में माना जाता है। कहानी के बारे में उनका मानना है- 'कहानी में घटना या कथा का होना ज़रूरी है किन्तु घटना अर्थपूर्ण होनी चाहिए। कहानीकार सभी संभव तथ्यों पर विचार करने के बाद ही किसी कल्पना की वास्तविकता बयान करता है। सभी घटनाएं अर्थपूर्ण ही हों, यह ज़रूरी नहीं है इसलिए इसका ध्यान रखना चाहिए।' 'सवार और दूसरी कहानियाँ' शम्सुर्रहमान फ़ारुकी का पहला कहानी-संग्रह है जिसका उर्दू से हिंदी में अनुवाद क्रांति शुक्ल ने किया है। गालिब अफ़साना, सवार, इन सोहबतों में आखिर, आफ़ताब-ए-जर्मी और लाहौर की एक घटना- पाँचों कहानियाँ औपन्यासिक विस्तार लिए हुए हैं। इनके जरिए फ़ारुकी ने भारतीय इतिहास के गुज़रे दौर की हिन्दू-मुस्लिम की मिली-जुली संस्कृति की तस्वीर पेश की है। इन कहानियों में अठारहवीं सदी की भारतीय संस्कृति को उकेरा गया है जो हिंदुस्तान के इतिहास का सबसे बड़ा संक्रमण काल था। मिर्जा गालिब और मीर तकी मीर जैसे शायरों के जरिये तत्कालीन हिंदुस्तानी

तहजीब को उभारने के प्रयास दिखाई देते हैं। दिल्ली खुद एक सूत्रधार की तरह उपस्थित है। यहाँ दिल्ली शहर का परिवेश बहुत गहनता के साथ उपस्थित होता है।

पहली कहानी 'गालिब अफ़साना' में एक बुजुर्ग अपने जीवन की संध्या में बीते हुए जीवन पर विचार कर रहा है। जवानी के दिनों में वह महत्वाकांक्षी शायर था जो गालिब को अपना आदर्श मानता था। यह कहानी सच पर आधारित है जिसमें गालिब के बारे में साहित्यिक बातों, उस जमाने की साहित्यिक संस्कृति और इतिहास को पिरोया गया है। 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के बाद तबाह हुई दिल्ली का हृदय विदारक वर्णन किया गया है। 'सारा रास्ता कंपनी बहादुर के सिपाहियों के जुल्म और जानवरों से भी ज्यादा खूंखार हरकतों के प्रतीकों से भरा पड़ा था। कुत्तों और चील-कब्यों ने लाशें खानी छोड़ दी थी। गिद्ध और लकड़बग्घे मुरदों को खाते-खाते बीमार हो गये थे। रास्ते में दोनों तरफ़ कोसों फासियाँ ही फासियाँ नज़र आती थी।' कथावाचक बेनी माधव रुसवा गालिब से मुलाकात करता है और उनसे शायरी पर बहस करता है। एक जगह गालिब अपने बारे में बताते हैं- 'मेरे मजामीन तो ऐसे हैं कि लोग उन्हें रहती दुनिया तक पढ़ते और समझते फिरेंगे। अभी ये अहले हिन्द क्या जानेंगे और क्या समझेंगे।' लम्बी पृष्ठभूमि देने की तकनीक पात्रों को विश्वसनीयता देती है और आगामी घटनाओं के लिए तैयार करती है। गालिब के पात्र को जानदार बनाने के लिए पुरातन भाषा और गालिब के पत्रों से उनके शब्दों का प्रचुर उपयोग किया गया है। मिर्जा गालिब के यहाँ जमी दास्तानगोई की महफिल का ज़िक्र भी किया गया है। कहानी को प्रमाणिकता देने के लिए जो जैसा देखा गया वैसा ही बयान किया गया है। कथावाचक कहता है- 'मैंने वही बातें लिखी जिनसे पाठक को ये तो मालूम हो कि मैं कौन था और किन-किन से बात करने का सम्मान मुझे प्राप्त रहा है।'

'सवार' कहानी के जटिल और दिलचस्प कथानक में दिल्ली का सांस्कृतिक जीवन है। यह संकलन की सबसे खूबसूरत कहानी है क्योंकि इसमें प्रेम को अमूर्त और तर्क से परे बताया गया है। कहानी में एक सूफी कलाप्रेमी और

फ़ारसी-उर्दू के शायर मिर्जा मजहर जाने जाना, एक कलंदर बुध सिंह, एक युवा विद्वान कथावाचक मौलवी खैरुद्दीन और करिश्माई नर्तकी के माध्यम से दिल्ली की तस्वीर खींची गयी है। कथानायक किसी सवार के बारे में शेर लिखता है जिसका अर्थ है- 'एक सवार जो सदा रहने वाली दौलत पर सवार था हमारी राह पर आ निकला, लोगों ने उसकी लगाम न थामी और वो राह पर से निकलता चला गया।' जिस घुड़सवार को लोगों ने तुर्कमान दरवाजे से गुज़रते देखा उसका सबने अलग-अलग वर्णन किया है। कोई उसे पुरुष बताता है, कोई औरत और किसी ने उसे सांडनी सवार बताया। कलंदर प्रेम के चलते अपनी सारी दौलत लुटाकर कहीं चला जाता है। कथानायक इस्मत जहाँ का ख्याल छोड़ देता है। कहानी का मुख्य पात्र अठारहवीं सदी की दिल्ली शहर खुद है। मालीवाड़े के फूल विक्रेताओं का बहुत जीवंत वर्णन किया गया है- 'ऐ मियां, ये ईरानी हूर आपकी राह देख रही है।' 'सुनो जी साहबजादे, इस हैदराबादी तिलंगन से तो दो-दो बात कर लो।' 'अजी, तस्वीह फेरने के लिए इनसे अच्छी कलियाँ कहाँ।' पृष्ठभूमि में इतिहास चलता रहता है- 'हमारे बादशाह सलामत ने इस महीने की चौबीस तारीख को बंगाल और बिहार की दीवानी अंग्रेज कंपनी के हवाले कर दी। अब्दाली ने मराठों को कुछ ही वर्ष हुए यहीं दिल्ली के पास पानीपत के मैदान पर घोर पराजय दी थी।'

'इन सोहबतों में आखिर' का शीर्षक मीर के एक शेर से लिया गया है- 'इन सोहबतों में आखिर, जानें ही जातियाँ हैं' नै इश्क को है सर्फा नै हुस्न को महाबा।' यह माँ-बेटी और उनके प्रेमियों की कहानी है। लबीबा खानम के दादा परदादा और पिता के जीवन के उतार-चढ़ाव को विस्तार से बताया गया है। लबीबा खानम बचपन में किसी के घर में काम करती है। मगर जवान होने पर नाच गाने के पेशे में चली जाती है तो उस पर धन की बरसात शुरू हो जाती है और आशिकों की लम्बी कतार लग जाती है। उसके सौन्दर्य का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण लगता है- 'क्या पहनावा, क्या बातचीत का लहजा, क्या आवाज़, क्या उचटती हुई निगाह की हलकी-सी छेड़छाड़, क्या चाल ढाल, क्या उठने-बैठने के ढंग, लबीबा खानम की बोटी-बोटी, रोएं-रोएं से तमन्ना और लगावट टपकती थी।' महान शायर मीर बेटी नूरुस सआदत का आशिक है। कहानी में उसके शुरूआती संघर्ष और मुशायरों में उसकी धाक जमाने की दिलचस्प किस्सागोई है। मीर पर जब आम बोलचाल की भाषा में शायरी करने का आरोप लगाया जाता है तो वह भड़क उठता है- 'भाषा उसकी है जो जबान के साथ उस तरह खेल सके, जिस तरह बच्चा माँ से

खेलता है।' कहानी जीवन का एक दुखद पहलू प्रस्तुत करती है क्योंकि माँ और बेटी अंततः शहर छोड़कर चली जाती हैं। बेटी का देहांत रास्ते में हो जाता है और माँ की भी कोई खबर नहीं मिलती है।

'आफताब ए जमीं' में लखनऊ की संस्कृति की झलक मिलती है। यह कहानी उर्दू और फ़ारसी के शायर मुसहफ़ी के बारे में है जिन्हें गरीबी के कारण उनके समकालीनों 'आधुनिकों' द्वारा औसत दर्जे का शायर माना गया था। कथावाचक मुसहफ़ी की मृत्यु के पश्चात् उनकी प्रेमिका भूरा बेगम से उनके बारे में जानकारी हासिल करता है। इस कहानी में मुसहफ़ी को केवल शायर ही नहीं, बल्कि एक रंगीन, सशक्त साहित्यिक और सामाजिक व्यक्ति के रूप में दर्शाया गया है। कहानी में कई कथावाचन कई चरित्रों के माध्यम से कराया गया है। कथावाचक और भूरा बेगम के अलावा मुसहफ़ी खुद अपने बारे में बताते हैं। भाषा को लेकर वह मीर और कतील की तरह उदार थे, 'अरबी-फ़ारसी कोई काबे शरीफ में छूटे हुए पवित्र हिरण समान तो नहीं कि उसे हाथ लगाना अपराध माना जाये? शब्द तो शब्द है जिस तरह अच्छा लगे छंदबद्ध कीजिये।' लेखक ने देश के हालात पर टिप्पणी की है- 'अठारहवीं शताब्दी में हिन्द का इतिहास सच पूछिए तो दगाबाजियों और गद्दारों का इतिहास है। ऐसी ही एक दगाबाजी एतमादुदौला के भांजे शाहनवाज खान ने की, जब उसने अहमदशाह दुर्गानी जिसे अहमदशाह अब्दाली भी कहते थे को हिन्द पर आक्रमण और विजय का आमंत्रण दिया।' हुमायूँ और शेरखान सूरी के बीच हुए युद्ध और लखनऊ में फैले हैजे का भी जिक्र किया गया है।

'लाहौर की एक घटना' कहानी दुस्वप्न और हकीकत के बीच झूलती रहती है। इसमें 'स्ट्रीम ऑफ कोन्सियस' का इस्तेमाल करते हुए कहानी और सच्चाई की विभाजन रेखा को मिटा दिया गया है। यह कहानी कथानायक द्वारा उसकी लिखी जा रही आत्मकथा का अंश बताई गयी है। इसमें पीली गन्दी कमीज वाले व्यक्ति के घर में घुस आने और पिस्तौल दिखाने तक की सब घटनाएँ हूबहू वही हैं जो लेखक को सपने में दिखाई दी थी। सपने का अंत बेतुका था इसलिए कहानी के अंत की कल्पना की जिसमें लेखक की कहानी की कला और सैद्धान्तिक आलोचना से जुड़ी बातें जोड़ी गयी हैं। यह कहानी प्रयोगात्मक है जो सच्चाई और कल्पना के बीच झूलती रहती है। नायक पर तथ्यों को गढ़ने और तथ्य और कल्पना के बीच की रेखा को धुंधला करने का आरोप लगाया जाता है, तो वह नायक चिल्लाता है- 'सभी कहानियाँ सच्ची हैं।''

1975, सेक्टर -4, अर्बन एस्टेट, गुडगाँव- 122001



---

## ग़ालिब अफ़साना : एक आम आदमी की नज़र से

मूलचन्द सोनकर

‘ग़ालिब अफ़साना’ उर्दू के सुप्रसिद्ध आलोचक और कथाकार शम्सुर्रहमान फ़ारुकी के कहानी-संग्रह ‘सवार और दूसरी कहानियाँ’ में संगृहीत एक कहानी है जो उर्दू-फ़ारसी के सर्वकालिक महानतम रचनाकार मिर्ज़ा ग़ालिब को केन्द्र में रखकर लिखी गयी है। पुस्तक के हिन्दी संस्करण की भूमिका के अनुसार “कहानियों का यह संग्रह पहली बार कराची से 2001 में छपा था। चूँकि यह कहानियाँ हिन्दुस्तान व पाकिस्तान की पत्रिकाओं में छप चुकी थीं इसलिए इनकी चहुँ ओर चर्चा हुई और हिन्दुस्तान में भी एक संस्करण 2003 में प्रकाशित हुआ। उसी समय से हिन्दी के साहित्यिक हलकों से यह माँग आने लगी थी कि इन कहानियों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया जाये। ज़ाहिर है मुझे भी तमन्ना थी कि हिन्दी माध्यम से ये कहानियाँ और दूर तक फैलें और हिन्दू-मुस्लिम सभ्यता के जो बिम्ब इन कहानियों में दर्शाए गये हैं उनसे भारत की आम जनता भी आनन्दित हो और कुछ सबक भी सीखे।” (शम्सुर्रहमान फ़ारुकी, सवार और दूसरी कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 27)

उर्दू संस्करण की भूमिका के अनुसार इस कहानी को लिखने की प्रेरणा लेखक को वर्ष 1997 में प्राप्त हुई। यह वर्ष ग़ालिब की जयन्ती का दो सौवाँ वर्ष था। लेखक अपनी पत्रिका ‘शबरखून’ के एक अंक को ग़ालिब पर केन्द्रित करना चाहता था लेकिन वांछित स्तर के लेख न मिलने के कारण बात नहीं बन सकी। इसी ऊहा-पोह की स्थिति में पहले उसके मन में यह विचार कौंधा कि वह स्वयं ही ग़ालिब पर कोई लम्बी-चौड़ी चीज़ लिखे, फिर अचानक कहानी लिखने का ख्याल आया। लेखक ने इस स्थिति का बयान इस प्रकार किया है-“अचानक मुझे ख्याल आया कि ग़ालिब के बारे में कहानी और सच पर आधारित एक आख्यान क्यों न लिखूँ जिसमें कुछ ग़ालिब से सम्बन्धित साहित्यिक बातें, कुछ उस ज़माने की साहित्यिक संस्कृति और कुछ इतिहास, सब मिल-जुलकर एक हो जायें। मैं कई वर्ष से उर्दू की पुरानी साहित्यिक संस्कृति और इतिहास पर एक किताब अंग्रेज़ी और उर्दू में एक साथ ही लिख रहा था। मुझे इस बात की

गहरी अनुभूति थी कि हमारी पुरानी साहित्यिक संस्कृति हमारी स्मृति और साहित्यिक ज्ञान से लगभग विलुप्त हो चुकी है। अगर समय के धरातल से नीचे उतरकर लुप्त हो गयी तो यह हमारे लिये घोर क्षति होगी और उस संस्कृति को दोबारा खोज पाना तो ख़ैर सम्भव ही न होगा। जिन संस्कृतियों का अतीत नहीं उनका भविष्य भी नहीं। उर्दू साहित्य और संस्कृति को भुला देने, उसे प्रतिष्ठाहीन समझने या समझे जाने की जो कोशिशें हमारे देश में जगह-जगह हो रही हैं (और उन प्रयासों में स्वयं उर्दू के भी कुछ सुपरिचित समुदायों का भी हाथ है) उनको देखते हुए यह और भी ज़रूरी है कि हम अपनी ऐतिहासिक स्मृति को जीवित रखें और अपनी साहित्यिक संस्कृति को जानदार, कायम रहने वाली और आज भी सार्थक सच्चाई के बतौर दुनिया के सामने रखें। (वही, पृष्ठ 19-20)

इसके बाद उर्दू और अंग्रेज़ी की अनेक साहित्यिक कृतियों के अध्ययन का हवाला देते हुए ‘ग़ालिब अफ़साना’ के अस्तित्व में आने की बात स्वीकार की गयी है। विलियम मेकपीस थैकरी के उपन्यास ‘द हिस्ट्री आफ हेनरी अजमंड’ का विशेष उल्लेख करते हुए लेखक कहता है-“ग़ालिब अफ़साना और उसके बाद भी सब कहानियों में थैकरी के उपन्यास और उसकी बातें मेहरबान दोस्तों की तरह मेरी साथी और मेरी रखवाली करने वालों की तरह बनी रहीं।” (वही, पृष्ठ 21) कहानी ‘ग़ालिब अफ़साना’ के बारे में लेखक का कहना है-“किन्तु जब ‘ग़ालिब अफ़साना’ मैंने लिख लिया तो स्वयं मुझे लगा कि ये तो कोई बहुत सफल कथानक बन गया है।” (वही, पृष्ठ 21)

मेरे सामने ‘ग़ालिब अफ़साना’ का हिन्दी अनुवाद है। उर्दू संस्करण के 16 पृष्ठों की भूमिका के बरअक्स हिन्दी संस्करण की भूमिका सवा पृष्ठ से भी कम की है। इसका सीधा-सा तात्पर्य यही निकलता है कि उर्दू कहानी हू-ब-हू अपनी उसी शक्ति में हिन्दी जगत को समर्पित की गयी है। इस पुस्तक का समर्पण वाक्य ध्यातव्य है- ‘हिन्दी जगत में दूर-दूर तक फैले हुए मेरे चाहने वालों के नाम।’ इस वाक्य को हिन्दी भूमिका में आये पूर्व उद्धृत वाक्य के साथ मिलाकर



पढ़ा जाये तो लेखक के कथनानुसार हिन्दी अनुवाद का उद्देश्य भारत की आम जनता को आनन्द पहुँचाना और सबक सिखाना है और यह आम जनता हिन्दी जगत में दूर-दूर फैले हुए उसके चाहने वालों में शुमार है। इसलिए इस आलोचना को उसी आम जनता के एक प्रतिनिधि की प्रतिक्रिया के रूप में पढ़ने की अपेक्षा की जाती है।

यदि उर्दू संस्करण की भूमिका को देखा जाये तो लेखक की चिन्ता उर्दू की पुरानी साहित्यिक संस्कृति और इतिहास के सम्भावित विलुप्तीकरण को लेकर है। इसके बचाव के प्रयास में वह जो किताब लिखने का दावा कर रहा है, वह उर्दू और अंग्रेज़ी भाषा में है। स्वाभाविक सवाल यह है कि इस प्रयास के साथ हिन्दी का पाठक किस रूप में जुड़ सकेगा। विलुप्तीकरण के कारणों के लिये जिन तत्त्वों की पहचान लेखक कर रहा है वे उर्दू के ही सुपरिचित समुदाय हैं। आश्चर्य की बात यह है कि लेखक ने इन समुदायों की पहचान पर से पर्दा नहीं उठाया है। कारण जो भी हो, लेकिन लेखक के मंतव्य से सहमत नहीं हुआ जा सकता। उर्दू की दुर्गति के पीछे हिन्दी की लोकप्रियता और हिन्दी वालों की उर्दू के प्रति स्वभावगत स्थायी उदासीनता ही एकमात्र कारण है। यदि उर्दू वालों के कारण ऐसा है तो लेखक ने उसे बताया ही नहीं। यह उसी को पता होगा। इतना ही नहीं हिन्दी संस्करण से जो वक्तव्य ऊपर उद्धृत किया गया है, उससे लगता है कि लेखक हिन्दी वालों को लेकर बहुत बड़ी खुशख़्वाली में है। उसने न जाने किस आधार पर यह खुशफ़हमी पाल ली है कि भारत की आम जनता छः सौ रुपये कीमत की किताब को हाथों हाथ लेगी। यहाँ में यह सवाल जानबूझकर कर नहीं उठा रहा हूँ कि इस पुस्तक की कहानियों की अन्तर्वस्तु को समझने की सलाहियत इस आम जनता में कितनी है, लेकिन इतना ज़रूर कहूँगा कि इन्हें समझने के लिये इतिहास-बोध का होना बहुत ज़रूरी है।

लेखक की भूमिका से यह भी साफ़ है कि उसकी साहित्यिक मानसिकता का निर्माण और विकास अंग्रेज़ी साहित्य ने ही किया है और उसकी कहानियों पर अंग्रेज़ी साहित्य का ही प्रभाव है। यह बात यहीं पर नहीं ख़त्म हो जाती। ग़ालिब के बारे में अपनी जानकारी के स्रोत के रूप में उसने स्वर्गीय मालिक राम, स्वर्गीय ज्ञानचन्द्र जैन और मिर्जा फ़रहत उल्ला बेग के नामों का उल्लेख किया है। उसके द्वारा ग़ालिब के साहित्य को कितना पढ़ा गया है, इसका कोई उल्लेख भूमिका में नहीं मिलता। उसकी यह सीमा कहानी में दिखाई भी पड़ती है। यहाँ तक कि कहानी का कथावाचक बेणीमाधव रुसवा जिस दीवान-ए-ग़ालिब के आधार पर ग़ालिब

से मुलाक़ात करने का मंसूबा बनाता है, मुलाक़ात होने पर उनके साथ इस पर कोई चर्चा तक नहीं करता, केवल दस्तख़त कराकर मुतमईन हो जाता है। ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है कि इस कहानी की आलोचना की चाभी भी उन साहित्यिक कृतियों में सुरक्षित है, जिनके अध्ययन का दावा लेखक ने किया है। स्पष्ट है कि इस कहानी की आलोचना में सबसे बड़ी बाधा यही है कि उन कृतियों का अध्ययन किये बिना लेखक के मन और कहानी के अन्तर्वस्तु की गाँठ खोल पाना मुश्किल काम है।

हिन्दी जगत हो या उर्दू अथवा कोई अन्य, ग़ालिब की लोकप्रियता उनकी उर्दू शायरी के कारण है लेकिन पाठकों को जिस ग़ालिब से परिचय कराना चाहता है लेखक, उसका हवाला उसने कहानी शुरू करने से पूर्व निम्नवत् दिया है- गुफ़्तन सुखन अज़ पाय-ए-ग़ालिब न जे होशस्त इमरोज़ कि मस्तम ख़बर-ए-ख़ाँहम अज़ऊ दाद

(ग़ालिब जिस उच्च कोटि के हैं उसके बारे में कोई होशो हवाश (हवास) वाला कुछ नहीं कह सकता। आज जब मैं नशे में मस्त हूँ तो कुछ आपको उनकी ख़बर सुनाऊँगा।)

तो क्या यह कहानी नशे की मस्ती में गढ़ी हुई ख़बर की दास्तान है? बहरहाल इस पर चर्चा आगे बढ़ाने के उद्देश्य से मैं यहाँ कृष्णदेव प्रसाद गौड़ के सम्पादकत्व और नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'ग़ालिब की कविता' से निम्न कथन उद्धृत करना चाहूँगा- "यद्यपि यह (ग़ालिब) अपने को फ़ारसी का विद्वान तथा कवि समझते थे और उर्दू का कवि कहा जाना अपनी शान के खिलाफ़ समझते थे परन्तु इनकी ख़्याति उर्दू की कविता के कारण ही है। इनकी फ़ारसी की रचनाएँ केवल मौलाना लोग तथा ग़ालिब पर रिसर्च करने वाले ही पढ़ते हैं। पीछे जान पड़ता है इन्होंने समय तथा वास्तविकता को समझा और उर्दू में रचना की यद्यपि फ़ारसी में लिखना बन्द नहीं किया।" (संस्करण 2002, जीवनी, पृष्ठ 47)

इस कहानी की आलोचना के लिये यह एकदम सटीक वक्तव्य है। पूरी कहानी में ग़ालिब को उनकी लोकप्रिय छवि अर्थात् उर्दू के अन्यतम शायर के पास फटकने तक नहीं दिया गया। वह स्वयं को फ़ारसी का एकमात्र विद्वान सिद्ध करने की ज़िद में पूरे दम-ख़म के साथ अड़े रहते हैं। भला इस ग़ालिब से उस उर्दू साहित्य और संस्कृति की रक्षा कैसे सम्भव है जिसके विलुप्तीकरण की आशंका में लेखक दुबला हो रहा है।

'ग़ालिब अफ़साना' वास्तव में इसके कथावाचक वेणीमाधव रुसवा और ग़ालिब के बीच तीन दिन तक चले संवाद

का विवरण है। यह संवाद सन् 1862 के दिसम्बर माह में हुआ था। इसका पता कथावाचक ने इस प्रकार दिया है-“नवम्बर 1862 के अन्तिम दिन थे जब मैं घोड़ों की डाक द्वारा कन्नौज, फर्रुखाबाद, बियावर, कोल, बुलन्दशहर, गाज़ियाबाद, शाहदरा, दिलहाई होता हुआ बीस दिन की यात्रा के कष्ट भोगता और दुख उठाता दिल्ली पहुँचा।” (सवार और अन्य कहानियाँ, पृष्ठ 41) यह रास्ता भी भौगोलिक रूप से ग़लत है। कन्नौज के बाद बेवर (बियावर), एटा, अलीगढ़, खुर्जा के बाद बुलन्दशहर तथा आगे का रास्ता पड़ता है। यह वेणीमाधव रुसवा कौन हैं? यद्यपि इनका और इनके पूर्वजों का विस्तृत ऐतिहासिक खुलासा किया गया है लेकिन मुझे इनके ऐतिहासिक पात्र होने में संदेह है। कहानी वेणीमाधव रुसवा की ही ज़बानी गति पाती है। अकबर के ज़माने में बलिया और उसके आस-पास के भूमिहारों ने थोड़ा बहुत विद्रोह मचाया तो उनका सर कुचलने के लिये पटियाला, जयपुर और झुन्झुनू के इलाके से जो शाही फौजें भेजी गयी थीं उन्हीं के साथ इनके पूर्वज भी आये थे जो वापस न जाकर आजमगढ़ के निज़ामाबाद में बस गये। यहीं पर सन् 1840 में इनका जन्म होता है। कालांतर में ज़मीन-जायदाद के झगड़े के कारण इनके कोई बुजुर्ग नाराज़ होकर मुसलमान हो गये और उनके वंशज भी मुसलमान ही रहे, लेकिन रुसवा जी के अपने पूर्वज अपने धर्म पर ही रहे।

यहाँ यह बात समझ में नहीं आती कि ज़मीन-जायदाद के झगड़े में उनके अनाम पूर्वज का मुसलमान होना कैसे मददगार हुआ होगा? यदि यह मान लिया जाय कि मुग़लों का राज्य होने के कारण वरीयता प्राप्त करने की मंशा से वह मुसलमान हुए थे तो कहानी यह तो बताती नहीं कि उनको किसी प्रकार का लाभ मिला था। उल्टे वेणीमाधव रुसवा अपने ही धर्म पर रहने के बावजूद पूरी तरह इस्लामी रंग में रंगे हुए थे और उन्होंने भरपूर लाभ भी उठाया। पुराने धर्म पर अडिग रहने वाले अपने पूर्वजों के चरित्र का गुणगान रुसवा जी इस प्रकार करते हैं-“दूसरे राजपूत वंशों के खिलाफ़ हमारे घराने में एक से अधिक विवाह का तरीका बिल्कुल न था। हाँ, चोरी-छिपे या खुलेआम इशक़ करने की बात और थी” (वही, पृष्ठ 34) और ये राजपूत इशक़ किससे फ़रमाते थे? इस सवाल का जवाब रुसवा के इस वाक्य में छिपा है जो वह अपने स्कूल के साथियों के लिये प्रयोग करता है-“शक्ल-सूरत और चाल-ढाल से तो वो हमारे ही जैसे थे अगरचे ज़रा छोटी जात।” (वही, पृष्ठ 33) यह वेणीमाधव रुसवा कोई और नहीं बल्कि कहानीकार स्वयं है जो अपना परिचय इस प्रकार देता है- “और फिर इसमें मेरे सबसे पहले पूर्वज हज़रत उमर

फ़ारुक़ (इस्लाम के दूसरे ख़लीफ़ा) के नाम की झलक भी थी।” (वही, पृष्ठ 22) तो सारा मामला कुलीनता का निकलता है और इसकी आशिकी की शिकार वही छोटी जात की स्त्रियाँ, लेकिन कुलीनता पर दाग़ नहीं लगता क्योंकि क़लम पर इसी का अधिकार है।

‘ग़ालिब अफ़साना’ एक ऐतिहासिक कहानी है। ऐतिहासिक कहानी की पाठकीय समस्या यह होती है कि इसे इतिहास से अलग करके कहानी के रूप में कब और कहाँ से पढ़ा जाये और यदि पाठक इतिहास से अनभिज्ञ हो तो यह कार्य दुरूह ही नहीं असम्भव भी हो जाता है, लेकिन इस कहानी में यह समस्या नहीं है। इसमें कथावाचक की काल्पनिकता स्थापित है। एक काल्पनिक कथावाचक किसी का प्रवक्ता होता है। यहाँ वह व्यक्ति स्वयं कहानीकार है। जो अपनी कल्पनाओं में ग़ालिब के समय में प्रवेश करके उनसे मुलाक़ात करता है, संवाद करता है। इस संवाद में न उर्दू साहित्य है और न संस्कृति। यहाँ तक कि मुलाक़ात का माध्यम बना दीवान-ए-ग़ालिब भी नहीं है। ग़ालिब से मीर का प्रशंसक कहलवाकर मीर की श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयास है। संवाद में फ़ारसी भाषा का बखान है, उद्धरण भी इसी भाषा के हैं। यहाँ भी कथावाचक के माध्यम से कहानीकार ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि फ़ारसी भाषा और साहित्य का उसका ज्ञान ग़ालिब से कमतर नहीं है; जबकि इस सम्बन्ध में अपना आकलन करते हुए उसने स्वयं यह स्वीकार किया है-“इंटरमीडिएट पास करते-करते मैंने बहुत कुछ अंग्रेज़ी, थोड़ी-बहुत उर्दू और उससे कुछ कम फ़ारसी पढ़ डाली थी।” (वही, पृष्ठ 15) कहानी में इस बात का भी हवाला है कि चाहते हुए भी वह फ़ारसी या उर्दू नहीं पढ़ सका। कहानीकार के ग़ालिब ज्ञान पर ऊपर चर्चा की जा चुकी है। वह अंग्रेज़ी साहित्य का अध्येता है मगर अपने प्रवक्ता के माध्यम से ग़ालिब के फ़ारसी-ज्ञान का इम्तहान लेता है और वह भी बेनतीजा, जिसमें बीच-बीच में टकराहट की चिंगारी अवश्य निकलने लगती है।

ग़ालिब से मुलाक़ात की चर्चा करने से पहले कथावाचक 1857 के ग़दर की कथा सुनाता है। वही अंग्रेज़ों की ज्यादतियों का स्टीरियोटाइप आख्यान। ध्यान रहे कथावाचक आँखों देखा हाल सुनाता है। इसी में मौतों की ख़ौफनाक मंज़रकशी है जिसे कहानीकार ने अपनी कल्पना की आँखों से देखा है, इतिहास की किसी भी किताब में ऐसा वीभत्स वर्णन नहीं मिलता। कहानी के नाम पर इतिहास को कालंकित करने का अधिकार किसी भी साहित्यकार को नहीं दिया जा सकता। वह दृश्य कितना वीभत्स है। इन शब्दों में देखा जा सकता है-

“मुलाज़िम को तो मैंने छुट्टी दे दी और उसका भी घोड़ा साथ लेकर मैंने चलती हुई राहें छोड़कर छिपते-छिपाते सुनसान रास्तों से आजमगढ़ की राह ली। उस सफ़र की दास्तान कभी और सुनाऊँगा। कोई ढाई महीने मैं सफ़र में रहा, यूँ जैसे कोई भागा हुआ अपराधी कोतवाल से छिपता-फिरता है। सारा रास्ता कम्पनी बहादुर के जियाले सिपाहियों के जुल्म और जानवरों से भी ज़्यादा खूँखार हरकतों के प्रतीकों से भरा पड़ा था। कुत्तों और चील-कौब्यों ने लाशें खानी छोड़ दी थीं। गिद्ध और लकड़बग्घे मुर्दों को खाते-खाते बीमार हो गये थे। रास्ते के दोनों तरफ़ कोसों तक फाँसियाँ ही फाँसियाँ नज़र आती थीं।” (वही, पृष्ठ 38) यह ऐतिहासिक मंज़रकशी है उस वेणीमाधव रुसवा द्वारा जो छिपता-छिपाता सुनसान राहों से भागा जा रहा था। कुत्तों और कौब्यों के बारे में उसने यह पता लगा लिया कि उन सब ने लाशें खानी छोड़ दी हैं, गिद्ध और लकड़बग्घे अपच की बीमारी से पीड़ित हैं। खैरियत तो कथावाचक की यह हुई कि कहानीकार ने उसे बख़्श दिया, नहीं तो इस बात की पूरी गुंजाइश थी कि वह वेणीमाधव रुसवा के जिम्मे लाशों के अन्तिम संस्कार और बीमार गिद्धों व लकड़बग्घों की तीमारदारी का काम सौंप देता। रुसवा जी की मार्फ़त शायरी की कितनी रुसवाई करायी गयी यह तो पता नहीं लेकिन इतिहास तो शर्म से मुँह छुपाकर कहीं दुबक गया।

यह बिल्कुल तयशुदा मुद्दा है कि यदि कोई रचनाकार इतिहास को साधने की सलाहियत नहीं रखता तो उसे ऐतिहासिक विषय पर लिखने से बचना चाहिये। साहित्यकार को इतिहासकार की तर्ज़ पर इतिहास को नहीं बरतना चाहिये और यदि ग़ालिब के सापेक्ष 1857 की अथवा 1857 पर चर्चा करना हो तो अतिरिक्त सावधानी बरतने की ज़रूरत पड़ती है क्योंकि 1857 के साथ ग़ालिब का रिश्ता बहुत ही संश्लिष्ट है। इसे उनके पत्रों और उनकी पुस्तक ‘दस्तबू’ के माध्यम से जाना जा सकता है। साहित्यकार का यह सामाजिक और नैतिक दायित्व है कि वह ऐतिहासिक इबारत नहीं बल्कि उसके निहितार्थ पर से पर्दा उठाये। इतिहास लिखवाया जाता है और साहित्य लिखा जाता है। इसी से इतिहासकार और साहित्यकार की लेखकीय स्वतंत्रता का अंदाज़ा लगाया जा सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में मैं इस कहानी में वर्णित कुछ दृष्टान्तों का ज़िक्र कर रहा हूँ। पहला, मौलवी अहमदुल्लाह के हवाले से कहा गया है- “अपने भाषणों में वो खुले बन्दों हिन्दू-मुसलमान दोनों को अंग्रेज़ों के खिलाफ़ जेहाद और युद्ध की प्रेरणा देते। उनका कहना था कि अंग्रेज़ का राज अधर्म और झूठ पर आधारित है। ये लोग हिन्दू-मुसलमान दोनों से

उनका मज़हब छुड़ाकर उन्हें खुदा से दूर कर देंगे।” (वही, पृष्ठ 36) यह दृष्टान्त चाहे ऐतिहासिक हो, चाहे काल्पनिक, चाहे वैचारिक, चाहे व्यक्तिवादी सोच का घाल-मेल; शरारतपूर्ण है। अंग्रेज़ों की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने दुनिया भर के लोगों को प्रजा से उठाकर नागरिक का रूतबा दिलाया, जनतंत्र का विकास किया, लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था की स्थापना की। कौन नहीं जानता कि अंग्रेज़ों ने ही क़ानून की नज़र में सभी मनुष्य को समानता का दर्जा दिया। वरना उनसे पहले जाति के आधार पर दंड और लाभ का अधिकार सुरक्षित था। सबसे हास्यास्पद बात तो यह है कि खुदा छुड़ाने की बात इस मासूम अदा से की गयी है जैसे अंग्रेज़ों के मज़हब में खुदा की अवधारणा ही नहीं है।

दूसरा, “फिर एक रात ये खबर जंगल की आग की तेज़ी से फैली कि मेरठ में अंग्रेज़ों के साथ कुछ बहुत बुरा सुलूक देशी सिपाहियों के हाथों हुआ और सब फ़िरंगी मेरठ, बुलंदशहर वगैरह छोड़-छोड़ पंजाब की तरफ़ भाग रहे हैं। असल घटना क्या हुई इसकी विस्तृत सूचना न मालूम हुई। बस इतना सुनने में आया कि सिपाहियों को ऐसे कारतूस मुँह से काटने को मिले थे जिसमें गऊ या सुअर की चर्बी थी। मंगल पांडे नामक सिपाही ने कारतूसों को काटने से इनकार कर दिया और अपने अंग्रेज़ अफ़सर को गोली मार दी।” (वही, पृष्ठ 37) 1857 के ग़दर के लिये यही घटना बहुप्रचारित है। यदि इसे सच मान लिया जाये तो फिर इस ग़दर को देश की आज़ादी से जोड़कर क्यों देखा जाता है? यह तो सीधे-सीधे तथाकथित धार्मिक विश्वास को बचाने का पागलपन था। मंगल पांडे को अपना धार्मिक विश्वास इतना ही प्यारा था तो उसे नौकरी छोड़ देनी चाहिए थी। जब तक कारतूस वाला प्रकरण उसके सामने नहीं आया था तब तक वह अंग्रेज़ी फ़ौज का हिस्सा बनकर उन सभी दुष्कर्मों में उनका सहयोग कर रहा था जिसके लिये अंग्रेज़ों को कठघरे में खड़ा किया जाता है। मेरा मानना है कि मंगल पांडे जैसे किरदार जिनके लिये अपनी धार्मिक पहचान देश से बड़ी है, इतिहास के कूड़ेदान में फेंक दिये जाने चाहिये। इसी पृष्ठ पर कुँवर सिंह का हवाला है। इन महाशय के बारे में मैं केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि जब युद्ध में अछूतों से छू जाते थे तो स्नान करते थे। जिस जातिप्रथा से देश आज तक कलंकित है, उसका पोषक कुँवर सिंह किसी भी दृष्टि से सम्मान के योग्य नहीं है।

फिर सबसे बड़ी बात तो यह है कि ग़ालिब पर अफ़साना लिखते समय 1857 को ग़ालिब की नज़र से देखा जाना चाहिये था। 1857 के बारे में ग़ालिब का नज़रिया

बिल्कुल स्पष्ट था। यह उनके पत्रों में तो दर्ज ही है दस्तबू नामक एक अलग पुस्तक ही इस पर है उनकी। मैं इस किताब पर अलग से कोई चर्चा नहीं करूँगा लेकिन यह ज़रूर बताना चाहूँगा कि 1857 को जिस तरह अंजाम दिया गया था, उससे ग़ालिब बहुत खुश थे। वह सम्पूर्ण घटना को एक निष्पक्ष न्यायविद की दृष्टि से देख रहे थे। स्वयं कहानीकार ने भी उक्त कथन में स्वीकार किया है कि हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने निर्दोष अंग्रेजों का क़त्लेआम किया था।

ग़ालिब कितने दूरदर्शी एवं निष्पक्ष दृष्टि से सम्पन्न थे, इसे अली सरदार जाफ़री ने अपने द्वारा सम्पादित पुस्तक 'दीवान-ए-ग़ालिब' की भूमिका में इस प्रकार व्यक्त किया है-“अंग्रेजों के लाये हुए विज्ञान और उद्योग ने उसे (ग़ालिब को) इतना प्रभावित किया कि ग़दर से कई वर्ष पहले सर सैयद अहमद ख़ाँ ने अबुल फ़ज़ल की 'आईन-ए-अकबरी' का परिशोधन किया और ग़ालिब से उसकी समीक्षा लिखने की इच्छा प्रकट की तो ग़ालिब ने ग़ज़ल के रूपकों के सारे आवरण अलग रखकर स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि आँखें खोलकर साहिबान-ए-इंग्लिस्तान को देखो कि ये अपने कला-कौशल में अगलों से आगे बढ़ गये हैं। उन्होंने हवा और लहरों को बेकार करके आग और धुँएँ की शक्ति से अपनी नावें सागर में तैरा दी हैं। यह बिना मिज़राब के संगीत उत्पन्न कर रहे हैं और उनके जादू से शब्द चिड़ियों की तरह उड़ते हैं, हवा में आग लग जाती है और बिना दीप के नगर आलोकित हो जाते हैं। इस विधान के आगे बाकी सारे विधान जीर्ण हो चुके हैं। जब मोतियों का खज़ाना सामने हो तो पुराने खलियानों से दाने चुनने की क्या आवश्यकता है। यह कहने के बाद ग़ालिब ने जो निष्कर्ष निकाला है वह महत्त्वपूर्ण है। आईन-ए-अकबरी के अच्छा होने में क्या संदेह है, लेकिन उदार सृष्टि को कृपण नहीं समझना चाहिये क्योंकि गुणों का अन्त नहीं है। खूब से खूबतर का क्रम जारी रहता है। इसलिये मृतकोपासना शुभ कार्य नहीं है।” (वही, पृ. 9-10) ग़ालिब के व्यक्तित्व की यह ऐसी विराटता है जिसे बिना किसी झिझक के वैश्विक विराटता कहा जा सकता लेकिन कहानी में उन्हें फ़ारसी भाषा के मोहपाश में उलझाकर उनके व्यक्तित्व को अत्यन्त क्षुद्र बना दिया गया है।

कथावाचक वेणीमाधव रुसवा का मिज़ाज शायराना है। राजपूत हैं लेकिन शायरी उनकी पहली पसन्द है। मीर के प्रशंसक हैं लेकिन ग़ालिब से मुलाकात करने के ख्वाहिशमन्द। ग़दर के बाद कानपुर के तोप-बन्दूक के अंग्रेजी कारख़ाने में मुलाज़िम हो जाते हैं। भर्ती के समय इनसे बस इतना ही पूछा गया कि लड़ाई में हिस्सा तो नहीं लिया जिसके जवाब में

इन्होंने सच-सच बता दिया कि बिल्कुल नहीं। थोड़े दिनों बाद तरक्की पाकर फ़ोरमैन बन गये। तनखाह ऊँची हो गयी। शादी की नहीं। बस नौकरी करते और लखनऊ के शेख़ नासिख़ तथा दिल्ली के मिर्ज़ा ग़ालिब के काव्य दिन-रात पढ़ते और दोस्तों को सुनाते। शेख़ साहब दुनिया से रुख़सत हो चुके थे। इनकी इच्छा थी कि मिर्ज़ा ग़ालिब की ही तरह शेर कहें, उनके पास उठें-बैठें और सीखकर वापस आयें। (वही, पृष्ठ 39-40) लेकिन ग़ालिब से मुलाकात होने पर वह उनसे कुछ सीखने के बजाय वाद-संवाद में उलझ गये। उनके साथ शराब पीकर गुरु-शिष्य का रिश्ता ही नहीं कायम होने दिया।

ग़ालिब से मिलने का अवसर दिया निज़ामी प्रेस कानपुर से प्रकाशित 'दीवान-ए-ग़ालिब' ने। इसके बारे में रुसवा जी इस प्रकार बयान करते हैं- “मई 1862 की बात है। एक दिन मैं तोपखाना बाज़ार की कोतवाली के सामने से गुज़र रहा था कि निज़ामी प्रेस के मौलवी अब्दुरहमान तेज़-तेज़ डग भरते हुए आते दिखाई दिये। मुझे देखते ही वो ठिठके और बोले, 'लो भई मियाँ रुसवा, तुम मिर्ज़ा ग़ालिब का नाम बहुत जपते रहते हो, तुम भी क्या याद करोगे। मैंने मिर्ज़ा का रेखा का पूरा कलाम छाप दिया है।' ये कहते हुए उन्होंने एक पतली-सी किताब मेरे सामने कर दी।” (वही, पृष्ठ 40)

आगे बढ़ने से पहले मैं दो बातों की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। पहली, 'दीवान-ए-ग़ालिब' की प्रति मिलने से पहले ही रुसवा के बारे में बताया गया है कि वह दिन-रात ग़ालिब का काव्य पढ़ते थे। क्या उनके पास कोई दूसरा दीवान था? यदि हाँ तो उसका खुलासा क्यों नहीं किया गया और यदि नहीं तो वह कहाँ से दिन-रात ग़ालिब का काव्य पढ़ा करते थे? दूसरी, स्वयं द्वारा सम्पादित दीवान-ए-ग़ालिब के बारे में अली सरदार जाफ़री यह सूचना देते हैं- “मैंने इस संस्करण के लिये श्री मालिक राम द्वारा सम्पादित दीवान का उपयोग किया है जिसका मूल मतब-ए-निज़ामी कानपुर के संस्करण (1862) पर आधारित है और इसका संशोधन स्वयं ग़ालिब ने किया था। मैंने केवल ग़ज़लें मूल-क्रम के साथ बाकी रखी हैं और ज़मीमें (परिशिष्ट) में भी दो क़ताओं के अलावा बाकी अश'आर ग़ज़लों के ही हैं।” (पृष्ठ 15) स्पष्ट है कि रुसवा द्वारा इंगित किताब का ही हवाला अली सरदार जाफ़री साहब दे रहे हैं। उनके द्वारा सम्पादित दीवान में 235 ग़ज़लें और 41 ज़मीमें हैं तथा यह एक भरी-पूरी किताब है। वेणीमाधव रुसवा किस वजह से इसे 'पतली-सी किताब' बता रहे हैं, समझ से परे है।

रुसवा को ग़ालिब से मिलने का विचार जिस वाकिए से सूझा वह इस प्रकार है- “एक दिन मैंने परेड के मैदान के

बाज़ार में एक पादरी को देखा कि लोग उसके पास आ-आकर किसी पुस्तक पर उससे हस्ताक्षर लेते हैं। मैं कुछ न समझा कि यह क्या रहस्य है। इधर-उधर पूछने पर पता लगा कि पुस्तक का लेखक वो पादरी ही है। लोग उसकी पुस्तक खरीदकर लाते हैं और उस पर उसके हस्ताक्षर लेकर मानो अपनी क़दरदानी और प्रेम का भाव प्रकट करते हैं। मेरे दिल में एक मर्तबा यह बात गूँजी कि अगर मैं भी मिर्ज़ा के दीवान की कुछ प्रतियाँ खरीदकर उनसे हस्ताक्षर करा लाऊँ और दोस्तों को भेंट के तौर पर पेश करूँ तो कैसी रहे। मिर्ज़ा से मिलने का बहाना भी हाथ आयेगा और दोस्तों पर मुफ्त में अहसान रखने का अवसर भी होगा।” (पृष्ठ 40-41) यह पैरा कहानीकार की सोच के दिवालियेपन की पराकाष्ठा है। पाठक ज़रा उस दृश्य का अपने मस्तिष्क में सृजन करें तो एक हास्यास्पद तस्वीर उभरती है। यह चित्रण किसी पुस्तक मेले का नहीं है जहाँ कोई लेखक किसी स्टाल पर अपनी पुस्तक के साथ उपस्थित है और ग्राहक उसकी किताब खरीदकर उस पर उसके हस्ताक्षर ले रहे हैं। यह एक बाज़ार का दृश्य है जहाँ पर लेखक खड़ा है। इस स्थिति में यह सम्भव ही नहीं है कि ग्राहक उसकी लिखी किताब खरीदकर लायें और उससे उस पर हस्ताक्षर करायें। यह उसी दशा में सम्भव है जब ऐसा करने के लिये कोई फरमान या अनुरोध जारी करके तत्सम्बन्धी आयोजन उस स्थल पर किया गया हो और फिर लेखक एक पादरी है। वह कैसी किताब लिखेगा? यह सवाल भी अपनी जगह यही संकेत करता है कि उसकी लिखी किताब में ऐसी कोई ‘अपीलिंग पावर’ नहीं होगी जिससे ग्राहक खिंचे चले आयें, लेकिन इस दृष्टान्त से लेखक की इस स्वीकारोक्ति की पुष्टि तो होती ही है कि अंग्रेज़ एक प्रेरक कौम है। मेरा यह भी सवाल है कि इस दृष्टान्त को सृजित करने की ज़रूरत ही क्या थी? ग़ालिब की कौन कहे, किसी से भी कोई मिल सकता है। किसी से मिलने पर कभी कोई पाबन्दी नहीं रही। कथावाचक भी ग़ालिब से बिना किसी पूर्व सूचना के ही मिलता है और इस मुलाक़ात के लिये उसे किसी तरह की दिक्कत का सामना नहीं करना पड़ता। यहाँ यह वाक्य “और दोस्तों पर मुफ्त में अहसान रखने का अवसर भी होगा” अटपटा लगता है। किताब की प्रतियाँ खरीदने से लेकर उस पर ग़ालिब के हस्ताक्षर लेने तक रुसवा का पैसा और श्रम दोनों लगता है। मुफ्त में लाभान्वित होने वाले तो दोस्त ही हुए। इसलिये उन्हें रुसवा का अहसानमन्द होना पड़ेगा। पता नहीं कहानीकार उल्टी गंगा क्यों बहाना चाहता है?

बहरहाल, कथावाचक वेणीमाधव रुसवा दिल्ली पहुँचकर

बाड़ा हिन्दूराव की एक सराय में ठहर जाता है। दूसरे दिन शाम ढले वह ग़ालिब से मिलने के लिए निकल पड़ता है। रास्ते में उसे मिर्ज़ा ग़ालिब का निम्न शेर याद आता है जिसके बारे में उसका कहना था कि अंग्रेज़ों के डर से वह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ था, लेकिन धीरे-धीरे चुपके-चुपके लोगों की ज़बानों पर चढ़ गया था..... (पृष्ठ 42)

घर से बाज़ार को निकलते हुए ज़ह्रा होता है आब इन्साँ का/चौक जिसको कहे वो मक़तल है/घर बना है नमूना जिन्दों का।

यहाँ यह बताना है कि सन् 1858 में (तिथि नहीं दी गयी है) मिर्ज़ा अलाउद्दीन अहमद खाँ ‘नसीमी’ को लिखे गये पत्र में 18 पंक्तियों का एक क़त‘आ भी मिर्ज़ा ग़ालिब ने लिखा था, उसी में उक्त चारों पंक्तियाँ भी शामिल हैं। (‘ग़ालिब के पत्र’ प्रथम खण्ड, पृष्ठ 449-50) 1862 में प्रकाशित दीवान-ए-ग़ालिब को खुद ग़ालिब ने ही फाइनल किया था। उसमें इसे क्यों नहीं शामिल किया गया। यह शोध का सवाल हो सकता है, लेकिन यह कहना कि अंग्रेज़ों के डर से इसे प्रकाशित नहीं कराया, ग़ालिब के स्वभाव के विपरीत तर्क है क्योंकि ग़ालिब की रचनाओं में इससे कहीं अधिक कटु टिप्पणियाँ पढ़ने को मिलती हैं।

कहानीकार ने इस मुलाक़ात का जो मंज़ूर खींचा है, पता नहीं वह ग़ालिब की तारीफ़ है या कुछ और। बयान इस प्रकार है- “अन्दर सूचना भिजवाई तो फ़ौरन ही बुलवा लिया गया। दो साहेबान पहले से मौजूद थे। मिर्ज़ा साहब का पीना-पिलाना शुरू हो चुका था, उन लोगों से शायद कुछ पर्दा न था।” (पृष्ठ 43) इसके बाद ग़ालिब की खूबसूरती का बयान तो है ही, मेहमाननवाज़ी का भी ज़िक्र इन शब्दों में किया गया है- “और कैसा मृदुल स्वभाव था, मुझ छोटे पर कैसी उदारता थी। उन्होंने फ़र्श के किनारे तक आकर मेरा स्वागत किया और अपने बायें हाथ की तरफ़ बिठाया।” (पृष्ठ 43) जो दो अन्य सज्जन थे उनमें एक नवाब ज़ियाउद्दीन ख़ान साहब ‘नैयर’ व ‘रख़्शाँ’ और दूसरे मिर्ज़ा साहब के खास शार्गिद मुंशी शिवनारायण ‘आराम’ थे।

इस बैठकी पर चर्चा करने से पहले मैं इस वाक्य की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा- “उन लोगों से शायद कुछ पर्दा न था।” मैं कहानीकार पर कुछ टिप्पणी किये बिना कहना चाहूँगा कि पीने-पिलाने में किसी प्रकार का पर्दा होता ही नहीं बल्कि यह वह वक़्त होता है जब सब कुछ पूरी तरह बेपर्दा हो जाता है। ग़ालिब की इस मनःस्थिति का पता उनके इस शेर से चलता है-हमसे खुल जाओ बवक़्त-ए-मै परस्ती, एक दिन/वर्नः हम छेड़ेंगे, रखकर उज़्र-ए-मस्ती एक दिन



ग़ालिब की छवि भी ऐसी नहीं है कि वह किसी से पर्दा करके शराब पीते थे। ऐसे तमाम उद्धरण और दृष्टान्त दिये जा सकते हैं।

कहानीकार तो ग़ालिब की मै परस्ती की पर्दगी/बेपर्दगी की बात करता है और उसका कथावाचक सारी शर्म-ओ-हया और झिझक-संकोच को बाला-ए-ताक़ रखकर दारूबाज़ी में हिस्सेदारी करने लगता है। जिस ग़ालिब के लिये उसके मन में यह भाव था कि उन्हीं के जैसा शेर कहे, उनके पास उठे-बैठे और कुछ सीखकर वापस आये, बवक्त-ए-मै परस्ती ऐसा खुला कि ग़ालिब से ही छेड़-छाड़ कर बैठा। इस बिन्दु पर आकर ग़ालिब के साथ उसका संवाद कितना निर्लज्ज है। देखिये- “मिर्ज़ा साहब ने फ़रमाया, ‘मियाँ इस घर में कोई तकल्लुफ़ नहीं होता। बताओ कुछ शौक भी रखते हो? मैंने दबी ज़बान से जवाब दिया, ‘हुज़ूर राजपूत हूँ, व्रत भी शुद्ध मदिरा से तोड़ता हूँ।’” (पृष्ठ 44) यह तो उस वक्त की बात है जब मामला सलाम-दुआ से आगे नहीं बढ़ा था। इसे यही कह सकते हैं कि शराबियों की ज़बान से शराब का नाम सुनकर ही लार टपकने लगती है, वह बिना पिये ही लाज-शर्म का सारा आवरण उतार फेंकता है, शराब के लिये उसके शब्दकोश में औपचारिक नकार भी नहीं होता।

उसके बाद कथावाचक जितने दिन ग़ालिब के पास रहकर उनसे संवाद करता है, उससे कहीं से भी यह नहीं लगता कि वह ग़ालिब से कुछ सीखना चाहता है। इस कहानी से आम जनता को आनन्दित करने का भ्रम पालने वाले कहानीकार ने ग़ालिब को फ़ारसी भाषा के प्रति दीवानगी की हद तक ज़िद्दी तो चित्रित ही किया है, अपने अन्दर बैठे कथावाचक के माध्यम से वह यह बताना भी नहीं भूला कि उसका फ़ारसी-ज्ञान किसी भी कोने से ग़ालिब से कमतर नहीं है। ग़ालिब के साथ संवाद में फ़ारसी के तमाम शेर और वह भी ग़ालिब के नहीं बल्कि दूसरों के, इतने ज़्यादा उद्धृत किये गये हैं कि सामान्य पाठक का सर दुखने लगता है। इसे एक त्रासद विडम्बना ही कहेंगे कि जिस दीवान के साथ कथावाचक ग़ालिब से मिलने जाता है उसके कलाम पर कोई चर्चा नहीं करता। क्या इसकी वजह मात्र यह नहीं है कि यह उर्दू का दीवान था? फ़ारसी भाषा के मोह से ग्रस्त कहानीकार जब उर्दू के पतन पर विलाप करता है तो उसकी नीयत पर संदेह होने लगता है।

ग़ालिब की दिनचर्या भी कहानी का अविश्वसनीय पक्ष है। नौकरों-चाकरों से घिरा ग़ालिब, रोज़ महफ़िल सजाता ग़ालिब, खिलाता-पिलाता ग़ालिब उस ग़ालिब से कोसों दूर है जिसके बारे में अली सरदार जाफ़री यह बताते हैं-

“अठारह-उन्नीस वर्ष की आयु में जीवन की निर्ममताओं का सामना करने के लिये अकेले मैदान में उतरना पड़ा। आय का कोई साधन नहीं था। बाप और चचा की मृत्यु के बाद जो जागीर पालन-पोषण के लिये थी उसको अधिकांश लोग खा गये और ग़ालिब उम्र भर हाथों में अर्जियाँ और क़सीदे लिये हुए देहली, लखनऊ, कलकत्ता, कानपुर, दर-बदर ठोकरें खाता फिरा, अयोग्य धनवानों और अंग्रेज़ अफ़सरों की झूठी प्रशंसा में हृदय-रक्त उगला और उसके बाद भी क़र्ज़ की शराब पी और भीख पर ज़िन्दगी गुज़ारी। मरते समय (दिल्ली, 15 फरवरी, 1869) भी यह कटु अनुभूति साथ थी कि विधवा पत्नी पर ग़रीबी और निर्धनता में क्या बीतेगी। यह भी हुआ कि ऋणदाताओं की नालिश और डिग्रियों के डर से घर में छिपकर बैठना पड़ा और किसी शत्रु के षड्यंत्र से जुए, (शतरंज और चौसर) की लत में कैदखाने का अपमान सहन करना पड़ा। मुग़ल दरबार में, जिसकी बहार लुट चुकी थी, वह आदर-पद भी न मिला जो निम्नतर कोटि के कवियों को प्राप्त हो रहा था और आयु के अन्तिम चरण में एक बौद्धिक वाद-विवाद के अपराध में बरसों माँ-बहन की ग़ालियाँ खानी पड़ीं। युवावस्था में युवती प्रेयसी का जनाज़ा आँखों के सामने उठ गया। जिसकी अदाएँ उम्र भर तड़पाती रहीं। घर में बच्चों के खेल-कूद के बजाय उनकी लाशें नज़र आयीं। जिस भांजे को गोद लिया था वह जवान मर गया, दिल्ली आँखों के सामने उजड़ी, बंधु-बांधव आँखों के सामने क़त्ल हुए, समकालीन कवि और विद्वान फ़ांसियों पर चढ़ा दिये गये और काले पानी भेज दिये गये और ग़ालिब के लिये ‘मातम-ए-यक-शहर-ए-आरजू’ (कामना नगरी का शोक) के अतिरिक्त कुछ बाकी न रह गया।” (दीवान-ए-ग़ालिब, पृष्ठ 10-11)

मेरे पास श्रीराम शर्मा और श्रीराम निवास शर्मा द्वारा लिप्यांतरित तथा हिन्दुस्तानी एकेडेमी उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित ग़ालिब के पत्रों के दोनों खण्ड हैं। ये पत्र ग़ालिब के हालात के दस्तावेज़ हैं। ग़ालिब कभी चैन से जी नहीं पाये। कहानी में जिन मुंशी शिवनारायण ‘आराम’ का नाम आया है, उन्हें लिखे पत्रों में भी ग़ालिब अपने हालात का जिक्र कर ही देते हैं। वैसे उन्हें अधिकतर पत्र ‘दस्तंबू’ के प्रकाशन के सिलसिले में लिखे गये हैं। इस किताब को लेकर मिर्ज़ा ग़ालिब की बड़ी लानत-मलामत की जाती है। यदि ‘दस्तंबू’ को केन्द्र में रखकर इस कहानी की रचना की जाती और रुसवा के साथ संवाद में इस पुस्तक के पक्ष-विपक्ष में ग़ालिब के विचार जानने का प्रयास किया जाता तो यह एक बेहतरीन कहानी तो होती ही, कहानीकार की उस सलाहियत का भी पता चलता कि ग़ालिब की काया में प्रवेश करके वह

किस सीमा तक ग़ालिब से मानसिक तादात्म्य स्थापित करके दस्तंबू के विवाद को सुलझाने में सफल हुआ है।

इसमें कोई दोराय नहीं है कि फ़ारसी ग़ालिब की कमज़ोरी थी। दस्तंबू के प्रकाशन को लेकर उनके द्वारा किये गये पत्राचार से ही नहीं उनके अनेक पत्रों से भी इसकी पुष्टि होती है, लेकिन बावजूद इसके ग़ालिब उर्दू के महत्त्व को कम नहीं समझते थे। इस सम्बन्ध में ग़ालिब के पत्र 'प्रथम खंड' की भूमिका का यह विस्तृत अंश बहुत महत्त्वपूर्ण है- "ग़ालिब की युवावस्था में ही देश में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे थे। दिल्ली और लखनऊ के राजवंश अपना प्रभाव खो चुके थे। जनता का बहुत बड़ा वर्ग साहित्य में रुचि लेने लगा था। देश की वर्तमान भाषाएँ बड़ी तीव्र गति से समुन्नत हो रही थीं। ग़ालिब के मित्रों ने यह सुझाव रखा था कि वे उर्दू में भी लिखें जिससे साधारण जनता उनकी रचनाओं से लाभ उठा सके।" इस प्रकार के सुझाव के सम्बन्ध में आरम्भ में ग़ालिब का विचार था- 'मैं उर्दू में अपना कमाल क्या ज़ाहिर कर सकता हूँ। उसमें गुंजाइश इबारात आराई (अलंकरण) की कहाँ है? बहुत होगा तो ये होगा कि मेरी उर्दू बनिस्वत औरों की उर्दू की फ़सीह होगी। खैर, बहरहाल कुछ करूँगा और उर्दू में अपना ज़ोरे क़लम दिखाऊँगा।' ये विचार ग़ालिब ने सन् 1858 में मुंशी शिवनारायण को लिखे गये पत्र में व्यक्त किये थे। 1864 तक भी ग़ालिब सोचते रहे कि उन्हें उर्दू में लिखना चाहिये या नहीं.... 'उर्दू क्या लिखूँ ...ख़र, हुई। अब मैं कहानियाँ-क़िस्से कहाँ ढूँढता फिरूँ? किताब नाम को मेरे पास नहीं। पिन्सन मिल जाये, हवास ठिकाने हो जायें तो कुछ फ़िक्र करूँ। पेट चढ़ी रोटियाँ तो सभी ग़ल्लों मोटियाँ।' लेकिन ग़ालिब 1857 के बाद शायद ही कभी पेट भर रोटी खा सके

और फिर उनकी अवस्था ऐसी नहीं रह गयी थी कि वे व्यवस्थित रूप से उर्दू में कोई बड़ी रचना कर पाते। धीरे-धीरे शरीर ने जवाब दे दिया था। ग़ालिब उर्दू लिखने के लिए पूरी तरह प्रवृत्त न हो सके, फिर भी समय-समय पर उन्होंने उर्दू में बहुत-सी कविताएँ लिखीं। इन कविताओं का संकलन उनके जीवन-काल में ही प्रकाशित हो गया था। ग़ालिब ने देखा कि उनकी उर्दू कविताओं का भी उतना ही आदर हुआ जितना फ़ारसी कविताओं का हुआ था। फ़ारसी काव्य संकलन और उर्दू काव्य संकलन की प्रसिद्धि में बहुत बड़ा अन्तर था। फ़ारसी-काव्य संकलन को जहाँ विद्वानों में प्रसिद्धि प्राप्त हुई वहाँ उर्दू संकलन ने विद्वानों के साथ-साथ साधारण जनता का ध्यान भी आकर्षित किया।" (पृष्ठ 1-2, संस्करण 1958)

यह उदाहरण इस कहानी की सटीक समीक्षा है, फिर भी मेरे सामने यह सवाल रह ही जाता है कि मैं इस कहानी को कहाँ स्थापित करूँ। इतना तो तय ही हो चुका है कि आम जनता का इस कहानी से कुछ लेना-देना नहीं है और विद्वानों को भी इससे निराशा ही हाथ लगेगी। वे इसमें ग़ालिब को ढूँढेंगे और ग़ालिब हाथ आयेंगे नहीं। इसमें शुरू से अन्त तक कथावाचक वेणीमाधव की शकल में कहानीकार ही उपस्थित रहता है। सितम यह है कि यह उपस्थिति एकदम स्थूल है। 1857 और साहित्य दोनों पर चर्चा करते समय कथावाचक का ही व्यक्तित्व हावी रहता है। मेरा स्पष्ट मत है कि कहानीकार अपने उद्देश्य में बिल्कुल भी सफल नहीं हो सका है। इसे एक बड़े रचनाकार की छोटी रचना कहा जाये तो अन्यथा न होगा।

**48 राज राजेश्वरी नगर, गिलट बाज़ार, वाराणसी-221002  
फ़ोन 9415303512**

### पृ. 23 का शेष भाग....

- |                    |                    |
|--------------------|--------------------|
| 14. वही, पृ. 67    | 25. वही, पृ. 63-64 |
| 15. वही, पृ. 67    | 26. वही, पृ. 65    |
| 16. वही, पृ. 90    | 27. वही, पृ. 79-80 |
| 17. वही, पृ. 94-95 | 28. वही, पृ. 83-84 |
| 18. वही, पृ. 95    | 29. वही, पृ. 77    |
| 19. वही, पृ. 99    | 30. वही, पृ. 97    |
| 20. वही, पृ. 100   | 31. वही, पृ. 92-93 |
| 21. वही, पृ. 100   | 32. वही, पृ. 91    |
| 22. वही, पृ. 61    |                    |
| 23. वही, पृ. 62    |                    |
| 24. वही, पृ. 62    |                    |

**एसो. प्रो. हिन्दी विभाग, ए.एम. यू. अलीगढ़  
फ़ोन 9897809027**



## सवार : उत्तर मुगलकालीन दिल्ली की उपनिवेश छवि का प्रतिरोध

डॉ. मेराज अहमद

उर्दू भाषा और साहित्य में शम्सुर्रहमान फ़ारुकी की विशिष्ट पहचान है। पहचान का प्रमुख कारण उनका आलोचनाकर्म है। उर्दू आलोचना को पाश्चात्य आलोचना सिद्धांतों के समानान्तर खड़ा करते हुए उन्होंने उसको विस्तृत धरातल प्रदान किया है। इस प्रयास में उन्होंने पाश्चात्य मापदंडों का सहारा तो लिया, परंतु उर्दू आलोचना की मौलिकता को बनाए रखा। उनकी इसी विशिष्टता के कारण उर्दू आलोचना को विस्तृत धरातल के साथ-साथ विशिष्ट दृष्टिकोण भी प्राप्त हुआ। उल्लेखनीय यह है कि, अधिकांश बड़े आलोचकों की भाँति ही शम्सुर्रहमान फ़ारुकी ने लेखन का आरंभ काव्य और कथा-साहित्य के माध्यम से किया। कहानियाँ उन्होंने अपनी किशोरावस्था में आरंभ की गयी हस्तलिखित पत्रिका 'गुलिस्ताँ' का पेट भरने के लिए लिखीं। यह सिलसिला उनकी दूसरी कहानियों के छुट-पुट इधर-उधर प्रकाशन के साथ आगे बढ़ा। 'दलदल' नाम से लिखी लंबी कहानी को वह किशोरावस्था की रोमानियत से जन्मी आत्ममुग्धता के कारण लघु उपन्यास मानते थे।<sup>1</sup> परंतु उनकी किशोरावस्था की रोमानियत कोरी रोमानियत नहीं थी, बल्कि उनके भीतर लगन और परिश्रम की भावना को भी आंदोलित कर रही थी। यही कारण है कि, उन्होंने 'दलदल' को तीन बार लिखा।<sup>2</sup> बाद में यह पुस्तक अंग्रेज़ी भाषा में भी प्रकाशित हुई, परंतु कठिन परिश्रम के अभ्यास से उनकी प्रवृत्ति के साथ प्रतिभा बाद में आलोचनाकर्म में तब्दील हो गयी। काव्य लेखन उनके आलोचना कर्म के साथ छुट-पुट रूप में चलता रहा। लेखन के शैशवकाल में लिखी जाने वाली कहानियों और उपन्यास लेखन की प्रतिभा भले ही सुसुप्तावस्था में चली गयी, लेकिन जब चैतन्य हुई तो 'सवार और दूसरी कहानियाँ' और 'कई चाँद थे सरे आसमों' उपन्यास के रूप में साहित्यिक फलक पर आयी। आयी तो हलचल-सी मच गयी। इस हलचल का दायरा भारतीय उपमहाद्वीप की सीमाओं को पार करते हुए सात समुंदर पार यूरोप और अमरीका तक पहुँचा।

शम्सुर्रहमान अपनी सुसुप्तावस्था से जागृति के संदर्भ में 'शबखून' के संपादन के हवाले से लिखते हैं कि, "यह अप्रैल उन्नीस सौ छियासठ का मध्य था। पहले ही अंक में

कई चीज़ें मैंने ऐसी सम्मिलित कीं जो लिखी तो मैंने ही थी, किंतु उन पर नाम कुछ और था। उनमें एक नाम 'शहरज़ाद' भी था जिसे एक भयानक कहानी के अनुवादक और भयानक अफसाने की आलोचना पर एक नोट के लेखक रूप में प्रस्तुत किया गया था। 'शहरज़ाद' के कई अन्य अनुवाद 'शबखून' में प्रकाशित हुए और लोकप्रिय हुए। एकआध मौलिक कहानी और कुछ अन्य अनुवाद मैंने जावेद जमील के नाम से सबखून में ही प्रकाशित किए। दूसरे शब्दों में कहानीकार बनने का अवसर दोबारा मेरे हाथ आया था, किंतु बात अधिकतर कहानियों और नाटकों के अनुवाद तक सीमित रही।"<sup>3</sup> भले ही कमजोर सही, उनकी शायरी का सिलसिला जो उनके बचपन में आरंभ हुआ था वह थमा नहीं। जहाँ तक उनके कहानीकार व्यक्तित्व का प्रश्न है वह भी जोर मारने से बाज नहीं आ रहा था। इस संदर्भ में वह लिखते हैं कि, "कभी-कभी मेरे दिल में हूक उठती कि उपन्यास लिखा जाय। अब्दुल्ला हुसैन और इंतैज़ार हुसैन के उपन्यास पढ़कर अक्सर यह उमंग दिल में लहरें लेतीं। किंतु फुर्सत कहाँ और हिम्मत किसे? हूक उठती और मैं दिल को यह कहकर समझा लेता कि-

"हवा रुके मेरे पाँव ज़रा थमें एक रोज़  
मैं आस्तान-ओ-दर-ए-कू-ए-यार देखूँगा"

परंतु आलोचना की हवा कहाँ रुकती और मुझे कब रुकने देती। आलोचना के नए-नए विषय, अध्ययन के नए-नए मैदान सामने आते गए। आयु बढ़ने के साथ स्वास्थ्य भी घटता रहा। आलोचना और उससे संबंधित लेखन मेरे साहित्यिक जीवन का केंद्र बन गए। कविता भी केंद्र में, परंतु लगभग भूमिगत रही। उपन्यास तो बड़ी बात है, अब छोटी-मोटी कहानी की भी संभावना क्षितिज के नीचे उतरती जा रही थी। कानपुर में रहने वाला मेरा एक भाई काज़ी नूरुसलाम मुझसे कहता कि आप उपन्यास लिखिए और हो सके तो अंग्रेज़ी में लिखिए, बहुत सफल होगा। किंतु मुझे हँसकर चुप रहने के सिवा चारा न था।"<sup>4</sup>

दरअसल ग़ालिब की दो सौवीं जन्मशताब्दी वर्ष में परिस्थितियाँ ऐसी बनी कि, फ़ारुकी को ग़ालिब पर विस्तारपूर्वक

लिखने की ज़रूरत महसूस होने लगी, लेकिन वह उससे पहले पिछले डेढ़-दो वर्षों में ही ग़ालिब से संबंधित अपने विचारों को प्रकट कर चुके थे। इसके अतिरिक्त वह अपनी आलोचना यात्रा के तीस-पैंतीस वर्षों के दौरान ही इतना लिख चुके थे कि, अब दुहराव मुनासिब नहीं था। कदाचित्त यही कारण था कि ग़ालिब पर लिखने की आवश्यकता ने उन्हें ग़ालिब के जीवन पर आधारित कहानी लिखने के लिए विवश किया। उनका लक्ष्य कहानी नहीं था। दरअसल वह ग़ालिब के बहाने उस समय के दूसरे रचनाकारों के साहित्य, संस्कृति तथा इतिहास पर भी दृष्टिपात करना चाहते थे।<sup>6</sup> तभी स्वर्गीय श्री मालिकराम के आलेख 'मिर्जा ग़ालिब हालात आदतें एवं प्रवृत्तियाँ' से उनका परिचय हुआ। लेकिन अपने लेखन में उन्होंने उस रचना की सहायता नहीं ली। वह ग़ालिब पर कथात्मक लेखन का आरंभ करने की भूमिका के रूप में मिर्जा फ़रहतउल्लाह बेग के अर्धऐतिहासिक आख्यान 'दिल्ली की आखिरी शमों' का भी उल्लेख करते हैं।<sup>7</sup> स्पष्ट है कि उपर्युक्त रचनाएँ उनकी कथात्मक रचनाओं का आधार नहीं रहीं, उनका उपयोग उन्होंने प्रेरणाश्रोत के रूप में ही किया है। फ़ारुकी अपनी कहानियों की कला के संदर्भ में विलियम मेकपीस थेकरी के उपन्यास 'दा हिस्ट्री ऑफ हेनरी एसमंड' का उल्लेख करते हैं, "इस उपन्यास की कई बातें मेरे दिल पर अमिट छाप छोड़ गयीं। एक तो यह कि, उसका कथावाचक जगह-जगह प्रथम पुरुष के बजाय तृतीय पुरुष की भाषा बोलने लगता है। दूसरी बात यह कि उपन्यास की घटनाएँ 18वीं शताब्दी में घटती हैं और उपन्यास की भाषा भी सरासर 18वीं शताब्दी की है। क्या लहज़ा, क्या मुहावरा, क्या वाक्यों का स्वर किसी बात से भी यह पता न लग सकता था कि यह उपन्यास 18वीं सदी के प्रथमांश में लिखित नहीं हैं और तीसरी बात यह कि इस उपन्यास में समकालीन साहित्यिक व्यक्तियों जैसे स्विट और डॉ. आर्बथनाट भी पात्र के रूप में प्रस्तुत किए गए थे। हालाँकि उपन्यास के विषय से उनका कुछ विशेष महत्त्व न था किंतु पाठक को लगता था कि वो अभी-अभी जीता-जागता उनसे मिला है।"<sup>8</sup> वस्तुतः उनके कथा लेखन में उनकी वैचारिकता अधिक प्रभावी रूप से भूमिका निभाती है। उपनिवेशवादी शक्तियों के प्रभाव से जन्मी आधुनिकता के नकारात्मक रवैये ने अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में देश की मुस्लिम सत्ता और शासन तथा दर्शन तथा इतिहास को पतनशील घोषित कर दिया था। मुगल शासकों की परंपरा के बाद के शासकों की जिस प्रकार नकारात्मक छवि प्रस्तुत की गयी वह मुल्क और मुसलमानों की छवि के संदर्भ में उपनिवेशवादी मानसिकता की अवधारणों का समर्थन करती

है। उपनिवेशवादी मानसिकता से संचालित विद्वान इतिहास की इस गलत व्याख्या के द्वारा तद्दुगीन समाज और शासन की सुनियोजित रूप से इतनी दयनीय छवि प्रस्तुत कर रहे थे कि, हमारे सामने केवल अफसोस करने के अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता भी नहीं था।

फ़ारुकी का कहानी-संग्रह 'सवार और दूसरी कहानियाँ' तथा उपन्यास 'कई चाँद थे सरे आसमाँ' के सृजन के पीछे का वास्तविक कारण उपनिवेशवादी विचारकों/इतिहासकारों और उनके समर्थकों द्वारा रचे गये मिथ को तोड़ना और वास्तविकताओं का उद्घाटन था। जिस युग को उपनिवेशवादी विचारकों और इतिहासकारों द्वारा अंधकार का युग बताया गया उसके संदर्भ में वह कहते हैं कि, "18वीं शताब्दी को मैं हिन्दू इस्लामी संस्कृति के इतिहास का स्वर्णकाल मानता हूँ। उर्दू-फ़ारसी साहित्य, सूफीमत, ज्ञान और धर्म, तर्क और दर्शन, लड़ाई के तरीके संगीत इन मैदानों में 18वीं शताब्दी वालों ने जो नई-नई दुनिया खोजी और अपने अधिकार में लीं, उनकी मिसाल पहले नहीं मिलती, बाद में मिलने का तो खैर कोई प्रश्न ही नहीं।"<sup>9</sup> उनका कहना है कि, भले ही दिल्ली बार-बार लुटी-पिटी, परंतु इसका अर्थ यह नहीं था कि, दिल्ली में उल्लू बोलते थे। वह दिल्ली जो सदैव से ही एक तरफ शासन-सत्ता के केंद्र में रही और दूसरी तरफ ज्ञान दर्शन और कला को संरक्षण देती रही। फ़ारुकी साहब तद्दुगीन दिल्ली को उपनिवेशवादियों द्वारा प्रस्तुत दिल्ली की छवि से अलग साहित्य, ज्ञान धर्म दर्शन और कला की पुरानी परंपराओं को आगे बढ़ाने वाली दिल्ली के रूप में रेखांकित करते हैं।<sup>10</sup> निश्चित ही अपनी इन्हीं मान्यताओं को साबित करने के लिए ही उन्होंने 'सवार और दूसरी कहानियों' में अठारहवीं शताब्दी के उत्तर भारत के जन-जीवन एवं धर्म, ज्ञान, दर्शन शिक्षा, सूफी मत और कलाओं की उन्नत स्थिति को प्रस्तुत किया है। इसे यूँ भी कह सकते हैं कि, उपनिवेशवादियों ने अपने विविध प्रकार के हितों को साधने के लिए मध्ययुगीन परिदृश्य में सर्वाधिक सकारात्मक शक्ति के रूप में सक्रिय सामासिक संस्कृति या यहाँ की गंगा-जमुनी तहज़ीब को जिस सुनियोजित षड्यंत्र के द्वारा खंडित किया उसका फ़ारुकी ने उसी आब-ओ-ताब से अपने कथात्मक साहित्य के साथ प्रतिरोध किया और उसकी ताकत से परिचित कराया। फ़ारुकी साहब के लेखन को सुनियोजित भी कह सकते हैं। उनका लक्ष्य प्रतिरोध है। उन्होंने अपने दावों को सही सिद्ध करने के लिए उस समय की महान् विभूतियों मीर तकी मीर, मिर्जा ग़ालिब, गुलाम हमदानी तथा मुसहफ़ी आदि कवियों को केंद्र में रखकर तत्कालीन भारतीय संस्कृति, ज्ञान, दर्शन और साधना पद्धतियों

की अभिव्यक्ति का महती कार्य किया है।

‘सवार और दूसरी कहानियाँ’ पृष्ठभूमि का आधार उत्तर भारत है। उपनिवेशवादियों ने अपनी विस्तारवादी नीति के तहत जिस भारतीय भाग की छवि को सर्वाधिक खराब करने का प्रयत्न किया वह उत्तर भारत का ही भाग रहा है। उसके केंद्र में दिल्ली है। ‘सवार’ की पृष्ठभूमि का आधार खालिस दिल्ली है। यह अफसाना कदाचित सुनियोजित रूप में लिखा गया। वह कहते भी हैं, “दिल्ली का हक थोड़ा-बहुत अदा करने के लिए मैंने पहले मीर के बारे में अफसाना नहीं लिखा, बल्कि सवार लिखा। मेरे अपने हिसाब से इस कहानी का केंद्रीय चरित्र स्वयं देहली शहर है।”<sup>11</sup>

अपनी किशोरावस्था के उत्साह में फ़ारुकी साहब अपनी आरंभिक कहानी ‘दलदल’ को लघु उपन्यास कहते थे। हकीकत यह है कि सवार की अधिकांश कहानियाँ विस्तार की दृष्टि से लघु उपन्यासों की श्रेणी में परिगणित की जा सकती हैं, परंतु इनकी महत्ता उनके विस्तार की अपेक्षा विषय-वस्तु में है। सवार के विषय-वस्तु के केंद्र में घटनाओं और पात्रों के बजाय दिल्ली को अहमियत दी गयी है। ‘सवार’ में दिल्ली का परिवेश अपने ऐश्वर्य के साथ जीवंत पात्र के रूप में तब्दील हो जाता है। यदि केंद्रीय चरित्र की तलाश की जाय तो खैरुद्दीन नाम के किशोर को देखा जा सकता है। उसकी बहन सीत्ती, माँ, बुध सिंह कलंदर और इस्मत कुछ एक पीर-ओ मुर्शिद (आध्यात्मिक व्यक्ति) के चरित्र हैं। उनका आपस में संपर्क सूत्र उस समय की दिल्ली का ज्ञान, कला, धर्म, आस्था एवं प्रेम का चित्रण है जो बड़ी बारीकी के साथ मिथकों पर प्रहार करते हुए अठारहवीं शताब्दी के उत्तर भारत के जन-जीवन एवं धर्म, ज्ञान, दर्शन शिक्षा, सूफी मत और कलाओं की उन्नत स्थिति को प्रस्तुत करता है।

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि, मदरसा रहीमिया दिल्ली की तदयुगीन शिक्षा व्यवस्था में बड़ी महत्वपूर्ण हैसियत रखता था। इसकी स्थापना अब्दुरहीम फ़ारुकी जैसे ऐतिहासिक व्यक्ति ने की, तत्पश्चात् उसकी बागडोर इस्लाम धर्म के प्रसिद्ध विद्वान शाह वलीउल्लाह के हाथों में आ गयी। मदरसा धर्म, दर्शन चिकित्सा एवं तर्कशास्त्र इत्यादि विषयों का केंद्र था। खैरुद्दीन उसी मदरसे में शिक्षा ग्रहण करता है। वह एक दिन साप्ताहिक अवकाश के पहले की संध्या बेला अपने दिल्ली में ही स्थित घर जाने की तैयारी में था तभी उसके मस्तिष्क में एक पंक्ति अचानक ही आती है-

“सवार-ए-दौलत-ए-जावेद बर गुज़ार आमद  
(एक सवार जो सदा रहने वाली दौलत था हमारी राह पर आ निकला)”<sup>12</sup> एक सवार वह था जो सदा रहने वाली दौलत की

राह पर निकलता है, लेकिन किस राह पर? यह प्रश्न उसे उद्बलित कर देता है। कदाचित वह इस शेर के दूसरे मिसरे की तलाश जो दरअसल उस राह की तलाश है। उसी तलाश के लिए उसकी यात्रा का आरंभ होता है। कथा आगे बढ़ती है। एक नकाबपोश सवार का प्रसंग है। उसकी बहन के विवाह और बुध सिंह कलंदर की मुलाकात और मिर्जा मजहर की खानकाह खानकाहे मजहरी से होती हुई इस्मत जहाँ से मुलाकात के साथ जब समाप्त होती है, इसी बीच उसे शेर की दूसरी पंक्ति मिल जाती है और उसकी सशरीर यात्रा के साथ मानसिक और रूहानी यात्रा के मध्य उसे उसके प्रश्न का उत्तर भी मिल जाता है। वस्तुतः शेर अपनी प्रतीकात्मकता के द्वारा कहानी के नाभीय बिन्दु को उद्घाटित करते हुए दिल्ली के चरित्र में व्याप्त साहित्य, ज्ञान, धर्म, दर्शन और कला तथा सूफी वाद को उसके पूरे ऐश्वर्य के साथ प्रस्तुत करता है।

कहानी में घटनाक्रम का आरम्भ एक विशिष्ट प्रकार के सवार की आगमन की चर्चा से होता है। दिल्ली के आध्यात्मिक चरित्र की यह विशेषता है कि, वहाँ इस प्रकार की अद्भुत गतिविधियाँ सदैव से ही चर्चाओं में रही हैं। उस सवार के संदर्भ में भी कहा जाता है कि कोई पहुँचे हुए चमत्कारी बुजुर्ग हैं और “सियाह कीतास नामी घोड़े पर सवार वो दो घड़ी दिन रहे अचानक प्रकट होंगे। यहीं तुर्कमान दरवाज़े के पास। फिर वो बुलबुली खाने की तरफ से बाज़ार सीताराम, हौज़ काज़ी, चावड़ी बाज़ार होते हुए जामा मस्जिद के उत्तरी फाटक की तरफ आयेंगे।” इस डर से कि मैं उसे टोक न दूँ वो जल्दी-जल्दी कहती गयी, “उत्तरी फाटक की तरफ से वो किनारी बाज़ार होकर चाँदनी चौक पर निकलेंगे।”<sup>13</sup> उस सवार की यह विशेषता है कि, “कोई उनका रास्ता रोक ले तो फिर वो उनसे कुछ भी माँग ले...सबकुछ मिलेगा। बस रास्ता रोकने की देर है।”<sup>14</sup> इन्हीं चर्चाओं के बीच खैरुद्दीन के मन में आये शेर की दूसरी पंक्ति उसके मन अचानक आ जाती है-

“इनान-ए-ऊ-न गिरितन्द अज़ गुज़ार बिरत  
(लोगों ने उसकी लगाम न थामी और वो राह पर से निकलता चला गया।)”<sup>15</sup>

शेर पूरा होकर उसे अजब-सी स्थिति में लाकर खड़ा कर देता है। पूरा शेर देखिए-

सवार-ए-दौलत-ए-जावेद बर गुज़ार आमद

इनान-ए-ऊ-न गिरितन्द अज़ गुज़ार बिरत

(एक सवार जो सदा रहने वाली दौलत था हमारी राह पर आ निकला, उसकी लगाम न थामी और वो राह पर से निकलता चला गया)

यह कहा जा सकता है कि, कहानी का सार उपर्युक्त

शेर की व्याख्या है। खैरुद्दीन की बहन सीत्ती बेगम की इच्छा थी कि वह अपने भाई के लिए एक अच्छी-सी दुल्हन के लिए फरियाद करेंगी, लेकिन वह कर नहीं पाती है। सवार अपने निश्चित समय पर आता है और आँखें झपकते ही ओझल हो जाता है। प्रश्न यह उठता है कि सदा रहने वाली दौलत क्या है? उत्तर यह मिलता है कि भाग्य कर्म का फल है, परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि कर्म के फल के रूप में लाभ और हानि होगी। कर्म के फल के रूप में आमोद-प्रमोद, घर-परिवार, मान-सम्मान, धन-ऐश्वर्य और धर्म तथा आस्था की कामना उसी समय तक होती जब तक उसके पास एक विकल्प न हो। विकल्प जो कि उसकी बेहतरी के लिए हो, वही उसका वास्तविक प्राप्य अथवा कहा जाय तो जीवन है।

बुध सिंह कलंदर से खैरुद्दीन की मित्रता होती है। बज़ाहिर वह कवि, ज्ञानी, आस्थावान होने के साथ-साथ धनवान और भव्य व्यक्तित्व का मालिक है। लेकिन उसके लिए जीवन का यह उचित विकल्प नहीं, तभी वह एकाएक अपने सभी ऐश्वर्य को त्यागकर घर छोड़ देता है। कदाचित्त यही उसका उचित विकल्प था, जो उसे मिल गया। परिणाम यह होता है कि, “लोगों में वो बहुत जल्दी पहुँचे हुए फकीर के रूप में प्रसिद्ध हो गये थे और उनकी राह में आस्थावानों का हुजूम बढ़ने लगा था। लेकिन किसी ने उन्हें बोलते न देखा था। वो थोड़े-बहुत गूढ़ इशारों में बात करते। बात क्या करते, कुछ उँगलियों की-सी ज़बान में कुछ कहते और आस्थावान उन्हीं इशारों को कुछ अर्थ पहना लेते। अपनी हवेली उन्हींने छोड़ी नहीं थी, लेकिन अब वो मुख्यद्वार पर बनी हुई दरबान की कोठरी में रहते थे। उनके माता-पिता उनकी देख-भाल के लिए लाहौर से आ गये थे लेकिन उन्हींने स्वीकार न किया। थक-हारकर उनके बाप वापस लाहौर चले गये। उनकी माता अपने पुत्र की देख-भाल और सेवा के लिए ठहर गयी थीं। वो कलंदर के लिए उनके मनपसंद खाने पकवातीं परंतु अधिकतर सारा खाना मुहल्ले के दरिद्रों में बँट जाता क्योंकि कलंदर ने खाना बहुत कम कर दिया था। अक्सर तो वो पूरे-पूरे सप्ताह भर खाना न खाते लेकिन उनका चेहरा तरोताज़ा रहता जैसे अभी-अभी छक कर उठे हों।”<sup>16</sup> उनकी यह कैफियत दरअसल उनके उचित विकल्प तक पहुँच जाने की परिणति थी। अन्ततः परिदृश्य से वह गायब हो जाते हैं। यह इस बात की दलील है कि वह अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँच गये।

बसंत दिल्ली में बड़े ही उत्साह और राग-रंग के बीच मनाया जाता था। एक दिन बसंतोत्सव के दौरान खैरुद्दीन कोठेवाली इस्मत जहाँ को देखता है तो उसका दिल बेकाबू हो

जाता है। मान-सम्मान और मर्यादा की वर्जनाएँ उसे दबाती हैं, “खानदान की सारी शराफत, धर्म और ज्ञान के बड़े लोगों के पास मेरा उठना बैठना, अल्लाहवालों के यहाँ आना-जाना, अध्यापक होने का मान-सम्मान, क्या यह सब इसीलिए था कि इसे दिल की हवा में यूँ उड़ा दिया जाय?”<sup>17</sup> लेकिन दिल की भी अजब चाल होती है जो अपनी ही राह पर चलने को विवश करती है।

“तर्सम न रसी ब मक्का तू ऐ ज़ाहिद  
की रह कि तू मी रवी ब तुर्किस्तान अस्त”

(मुल्ला जी मैं डरता हूँ कि तुम मक्का शरीफ न पहुँच पाओगे क्योंकि जिस राह पर तुम चल रहे हो वह तुर्किस्तान जाती है।)<sup>18</sup> सवाल पर सवाल खड़े होते हैं। “क्या इंसान केवल लाभ और हानि के लिए ही जीता है? क्या कोई उच्चतर उद्देश्य नहीं, रोज़ के जीवन से बढ़कर कोई ऊँचा स्थान नहीं? यह घर-गृहस्थी, यह कथित सादर जिंदगी, ये पढ़ना-पढ़ाना, ये महफिलें और मजलिसें उसी वक्त तक सार्थक हैं जब तक इंसान के पास कोई बेहतर जीवन पद्धति न हो। काबा शरीफ की चारदीवारी में बंद और सुरक्षित हिरन की तरह बेखटके जीना कोई जीना है?”<sup>19</sup> भले ही इस्मत जहाँ को देखने के बाद उसे अपना जीवन सार्थक लगा हो, उसे वही अपनी हकीकत लगी हो लेकिन सांसारिक जीवन की मर्यादाओं से पार पाना उसके लिए उतना सहज नहीं था, जितना कि बुध सिंह कलंदर के लिए।

अपनी तमाम इच्छाओं के बावजूद वह इस्मत जहाँ रूपी सवार को प्रेम रूपी उस दौलत के लिए उसका रास्ता न रोक सका, कदाचित्त जो उसका बेहतर विकल्प होता। दरअसल वह उसे रोकने की आब-ओ-ताब अपने अन्दर पैदा न कर सका। तभी तो उसने यह “फैसला कर लिया था कि इस्मत जहाँ के साथ कोई खेल मेरे खेलने का नहीं है। बचपन में हम लोग घर-घर का खेल खेलते थे। एक घर वाले दूसरे के घर मुलाकात को जाते, इत्र और पान से उनकी खातिरदारी होती। दोस्ती और रिश्ते बनाए और मज़बूत किए जाते। बीमारी और स्वास्थ्य की बातें होतीं। हम जानते थे यह सब निरा खेल है, स्वांग है लेकिन हमारा उसमें मशगूल हो जाना और छोटी-सी बात के लिए हमारा शौक इससे कम न होता था। इस्मत जहाँ के साथ इस तरह का भी खेल मेरे लिए न था और उनकी या किसी की भी राह में खाक हो जाना मेरी कोटि का न था।”<sup>20</sup> इसका परिणाम यह होता है कि माँ उसके विवाह की तमन्ना के साथ संसार से विदा हो जाती है। उसका जीवन बेरंग और लक्ष्यहीन होकर रह जाता है। वह स्वीकारोक्ति में कहता भी है, “शहर में फिर कोई सवार न आया। मैंने इस्मत तख़ल्लुस

रखकर शेर कहना शुरू कर दिया। दो-चार शार्गिदों से कुछ नज़राना आ जाता, गुज़ारे के लिए बहुत है। रातों को बहुत कम सोता हूँ। रोज़ उम्मीद करता हूँ आज सोऊँगा और ख़ाब देखूँगा, लेकिन ठीक से कभी नहीं सोता और ख़ाब देखे तो मुद्दत हो गई।”<sup>21</sup>

इस प्रकार खैरुद्दीन की कहानी का तो अन्त हो जाता है, लेकिन उसकी इस यात्रा में दिल्ली का परिवेश अपनी पूरी आब-ओ-ताब के साथ नुमाया होता जाता है, जो कहानी के कथ्य से किसी भी मायने कम नहीं। दरअसल यह कथाकार द्वारा प्रस्तुत आख्यान के लक्ष्यों की पूर्ति करता है। कहानी का आरंभ ही विशिष्ट शब्द ज़र्द और दूदी के विश्लेषण से आरंभ होता है। इसके बाद विस्तार के साथ तद्दुगीन परिवेश में वैदिकी के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों को उद्घाटित करते हुए शम्सुरहमान फ़ारुकी की वैचारिकता को पुष्ट करता है- “दीये की रोशनी मख़्दिम थी, या यूँ कहें कि ज़र्द और दूदी थीं। इस शब्द को लिखकर मैं ज़रा मुस्कराया हूँ। यह हकीमी का एक पारिभाषिक शब्द है और मुझे इसका अर्थ जाने हुए कुछ ही दिन हुए थे। हकीम शरीफ़ ख़ाँ साहब (उनका साया दूर-दूर तक फैले) कभी-कभी हमारे मदरसे में अध्यापन करने का कष्ट करते हैं। पिछले रविवार को आपने नाड़ी पहचानने की कला पर बहुत समग्र व्याख्यान दिया था। व्याख्यान क्या था, पढ़ने और पढ़ाने का उदाहरण स्वरूप पाठ था। एक बड़ी उम्र का विद्यार्थी शैख़ुरईस बू अली सीना की किताब से एक वाक्य पढ़ता। अगर पढ़ने में उससे गलती होती, या खुद किताब ही में कोई लिखाई की त्रुटि होती तो क़िल्बा हकीम साहब उसका संशोधन करते। फिर वो अरबी वाक्य का फ़ारसी में अनुवाद करते। लेकिन उस वाक्य की बारीकियाँ वह अरबी ही में समझते। इसके बाद हर छात्र को हुक़्म होता है कि अपने साथी की नाड़ी देखकर उन विशेषताओं के प्रकाश में उस पर टिप्पणी करें जिनका वर्णन शैख़ुरईस के सबक में है। टिप्पणी करने के लिए फ़ारसी ही नहीं हिन्दी में भी बोलने की अनुमति थी।”<sup>22</sup> उपर्युक्त संदर्भ जहाँ एक तरफ़ दिल्ली में ज्ञान और अध्ययन-अध्यापन की विकसित स्थिति को उद्घाटित करता है, वहीं गौरतलब यह कि एक भिन्न भाषा जो कि साधारण लोगों की भाषा अर्थात् हिन्दी थी, उसके प्रचलन अथवा आरंभिक हलचल को भी संकेतित करता है।

तद्दुगीन परिस्थितियों में दिल्ली की ज्ञान और शिक्षा की उच्च स्थिति और उसके फलने-फूलने के संदर्भ में मदरसा रहीमिया का चित्र महत्वपूर्ण है। मदरसा रहीमिया का निर्माण और उसका विकास तथा उससे जुड़े लोगों की दिल्ली में भूमिका ऐतिहासिक है। उसकी और उससे संपृक्त लोगों की

आधुनिक भारत के आरंभिक युग में मुस्लिम धर्म और समाज दोनों ही क्षेत्रों में महती भूमिका रही है। खैरुद्दीन अपनी शिक्षा ग्रहण करते समय की अपनी स्थिति का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि, “मैं मस्जिद फतेहपुरी के ज़रा पीछे हमारे बुजुर्ग और हमारे प्रमाण शाह अब्दुरहीम साहब फ़ारुकी (उन पर खुदा की रहमत और बख़्शिस हो) की ख़ानकाह में उन्हीं द्वारा स्थापित मदरसा रहीमिया का छात्र था। हज़रत बड़े शाह साहब तो 1131 हिजरी (1719 ई.) में ही इस दुनिया से कूच कर चुके थे। उनके बाद मदरसे की अध्यक्षता उनके बड़े बेटे हकीमों में सबसे बड़े हकीम, आलिमों में सबसे बड़े आलिम, खुदा को पहचानने वाले सूफियों के मार्गदर्शक हज़रत शाह वलीउल्लाह साहब मुहद्दिस देहलवी के मुबारक हाथों में आई। मुझ नाकारा को उनके व्याख्यानों को सुनने का सौभाग्य कोई दो बरस तक मिला। मातम और सौ-सौ बार मातम का मुकाम है कि चंद महीने पहले 1176 हिजरी (1762 ई.) में हमारे हज़रत वलीउल्लाह साहब भी खुदा जा मिले। दिल्ली के तमाम छोटे-बड़े लोगों में अब तक उनका शोक मनाया जा रहा है। मदरसे की बागडोर अब अपने वक्त के ग़ज़ाली समान और आज के सबसे बड़े मुहद्दिस हज़रत शाह अब्दुल अज़ीज़ साहब (खुदा उनकी बड़ाइयों को कायम रखे और लोगों को उनसे दूर-दूर तक लाभ मिले) के शुभ हाथों में है।”<sup>23</sup> प्रस्तुत ब्योरे में जिन तिथियों और विद्वानों का उल्लेख हुआ है वह ऐतिहासिक साक्ष्य पर आधारित हैं।

अंतिम मुगल शासकों की सुनियोजित रूप से पेश की गयी दयनीय स्थिति के मिथक को तोड़ने वाली उनकी छवि देखिए, “मेरे पिता (अल्लाह उन्हें करवट-करवट जन्मत नसीब करे) आला हज़रत शाह आलम द्वितीय के साथ लड़ते हुए बिहार की एक छोटी-सी लड़ाई में शहीद हुए थे। उस वक्त आपने अबुल मुज़फ़्फ़र जलालुद्दीन मुहम्मद शाह आलम सानी (खुदा उनके मुल्क और उनकी शक्ति को हमेशा कायम रखे) के शुभ नाम के साथ हुकूमत के तख़्त को सुशोभित न किया था। उन दिनों आप की शहज़ादगी के शुभ ज़माने थे और आपकी उपाधि साहब-ए-आलम और आप का शुभ नाम शाहज़ादा आली गुहर था। मेरी आयु कोई तीन साल की रही होगी और मेरी बहन बस उसी समय पैदा हुई थी। हम दोनों के नाम खैरुद्दीन और सीत्ती बेग़म उन्हीं के रखे हुए हैं। क़िल्बा व साहब-ए-आलम शाहज़ादा आलीगुहर ने वफादारों की परवरिश और गरीबों पर दया की भूमिका निभाते हुए मेरी माँ के लिए छोटी-सी तनख़्वाह निर्धारित कर दी थी। वह नेक बंदी उसी में अपना और हमारी दो जानों का पेट पालती थी।”<sup>24</sup>



दिल्ली के साहित्यिक परिदृश्य का चित्रण वहाँ के साहित्य एवं संस्कृति की गौरवशाली परंपरा को देखने-समझने के लिए दृष्टव्य है। प्रसंग खैरुद्दीन के मन में आये शेर के पहली पंक्ति के समय का है, “मैं ...फ़ारसी का कोई विशेष अध्ययन भी नहीं। उतनी ही फ़ारसी पढ़ी है जितनी अपने पाठ्यक्रम के लिए ज़रूरी हो। रही गज़ल तो वो कोई पढ़ने की चीज़ नहीं। यूँ ही गलियों बाज़ारों की हवाएँ मिर्ज़ा बेदिल, शेख अली हंज़ी, मुहम्मद अफ़ज़ल सरखुश, अचलदास, आनंद राम मुफ़लिस, मिर्ज़ा मज़हर जान-ए-जाना, ख़ान-ए-आरजू और बीसियों दूसरे कवियों के काव्य को शहर-शहर उड़ाए फिरती थीं। गज़ल की इस लोकप्रियता के बावजूद मैंने कभी एक मिसरा भी न कहा था। अगर आगे कभी कहने की सोचता भी तो रेख़्ता कहता कि इन दिनों अच्छे और नये शायर रेख़्ता की तरफ जा रहे थे। रेख़्ता में एक शोखी व रंगीनी थी और वो अब फ़ारसी वालों के हाथ से निकलती जा रही थी।”<sup>25</sup>

कथाकार ने प्रसंगवश फ़ारसी के स्थान पर रेख़्ता के आगमन का संकेत करते हुए उसकी शोखी और रंगीनियों को उसके विस्तार के कारण के रूप में रेखांकित करते हुए फ़ारसी के स्थान पर रेख़्ता के आने की ऐतिहासिक प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए कहानी की भाषा के विकास की प्रक्रिया में फ़ारसी के स्थान पर रेख़्ता के आने के कारणों के स्पष्टीकरण से भी संपृक्त किया है।

समय के साथ दिल्ली के साम्राज्य की सीमाएँ भले ही सिमट गयीं, परंतु वहाँ के जीवन में व्याप्त रंगीनी शोखी और मस्ती तथा जीवंतता बनी रही। उसको वहाँ के मालीवाड़े के चित्रण में देखा जा सकता है। मदरसे से खैरुद्दीन के घर जाने का एक रास्ता छोटा था ओर दूसरे में, “ज़रा तेज़-तेज़ चलें तो इस पूरे सफर में सवा या डेढ़ घड़ी लगती थी...परंतु एक रास्ता और था। वह रास्ता यूँ था कि फतेहपुरी से कुछ आगे जाकर सीधे हाथ को बल्लीमारान में घूम-फिर कर गली कासिम जान को छोड़ते हुए उल्टे हाथ को मालीवाड़े में दाखिल हो जाएँ। फिर वही राह आपको चावड़ी बाज़ार ले जाती हुई पुराने रास्ते पर वापस ले आएगी। फूल विक्रेताओं के बाज़ार वाले मुझे पहचानने लगे थे और कभी-कभी मुझसे अपनी नज़र-नियाज़ के मौके पर फ़ातिहा दिलवाते। फिर भेंट स्वरूप मुझे कभी ईरानी चमेली का बड़ा-सा गुच्छा, कभी मंगलौर के सुर्ख गुलाबों का गुलदस्ता, कभी बनारस या जौनपुर के मोगरे के द्वार, कभी चम्पा की कलियाँ यानी मौसम के अनुकूल कुछ पेश करते।”<sup>26</sup>

ज्ञान दर्शन के व्यावहारिक रूप सूफीवाद का दिल्ली सदैव से ही केंद्र रहा। मुगलों के अंतिम काल में भी वह अपनी

पूरी आन-बान-शान के साथ फलता-फूलता रहा। सवार कहानी में सूफी फकीरों खानकाहों का चित्रण और उल्लेख दोनों ही हैं। यह चित्रण और उल्लेख दिल्ली की संस्कृति और परंपराओं के विकास की और उसकी उन्नत स्थिति को रेखांकित करते हुए आधुनिकतावादियों की मान्यताओं का खंडन करता है तथा तद्दुगीन परिवेश में फलते-फूलते सूफीवाद के प्रभाव को रेखांकित करता है। खानकाह-ए-मज़हरी का चित्रण ध्यातव्य है, “मिर्ज़ा साहब की खानकाह का दरवाज़ा खुला हुआ था। कोई दरबान भी न था। हम बेखटके अंदर चले गए। मुख्यद्वार के दोनों तरफ एक-एक कोठरी उसके बाद बड़ा-सा आँगन, चारों तरफ दालान। आँगन के बीचो-बीच नहर बह रही थी। उसके दोनों तरफ फूलदार पेड़ जिन पर दो-तीन चिड़ियाँ चहचहा रही थी। न जाने पालतू थीं या न जाने यूँ ही उड़ती-फिरती चली आई थीं। आँगन के उस पार सामने दोहरा दालान था। अंदरूनी दालान में एक ज़रा ऊँची जगह पर मिर्ज़ा साहब सुशोभित थे। सारी सभा इस तरह सभ्य, सोने की तरह जगमगाती हुई भरी-पूरी और नफासत भरी लगती थी कि मुझे कहीं रुककर बैठने का साहस न था, मानों उसकी पवित्रता को मेरा व्यक्तित्व इस तरह खत्म कर देगा जिस तरह सफ़ेद चादर पर स्याही का धब्बा। हम आहिस्ता चलते बाहरी दालान पर ज़रा ठिठके, तो न मालूम अपने आप से या खुदा जाने मिर्ज़ा साहब की आँखों का हल्का इशारा पाकर, जिसे हम लोगों ने महसूस न किया, एक साहब ने फरमाया, “तशरीफ लाइए, इधर जगह है।”

हम लोग नज़र झुकाए, फूँक-फूँक कर पाँव रखते, आगे चले आए। बुधसिंह साहब ने सीने पर हाथ रखकर और ज़रा झुककर आदर दिया, मुँह से बहुत धीमी आवाज़ में कहा, “किब्ला व काबा, तस्लीम बजा लाता हूँ। सरकार मिज़ाज़ कैसा है?” मिर्ज़ा साहब ज़रा-सा मुस्कुराए, निहायत सुरीली, दिल में बैठ जाने वाली आवाज़ में आपने फरमाया, “जीते रहो, दौलत और इकबाल बढ़ते जाएँ।” फिर मेरी तरफ ज़रा-सी निगाह के इशारे से देखा, मानों पूँछ रहे हों यह कौन शख्स है।

मैंने दोबारा झुककर सलाम किया, निगाहें नीची रखीं और हाथ बाँधकर बोला, “बंदे को खैरुद्दीन कहते हैं। कलंदर साहब ने हिम्मत दिलाई तो दर्शन और जूतियों को आँख से लगाने के लिए हाज़िर हो गया हूँ।”<sup>27</sup> खानकाह के प्रस्तुत चित्र के अनंतर उस समय की सूफियों की साधना पद्धति, उसके प्रति आस्था और उसका प्रभाव अपनी पूरी भव्यता के साथ रेखांकित हुआ है। साथ ही यह प्रसंग उस समय की संस्कृति और लोक-व्यवहार को भी दर्शाता है। सूफी साधना

पद्धति के संदर्भ में बुधसिंह कलंदर द्वारा रज्जी-सज्जी की दरगाह के पास जाकर खैरुद्दीन से बताया गया वाक्या भी देखा जा सकता है, “हज़रत बायज़ीद किस उच्च कोटि के सूफी थे आपको मालूम ही होगा। एक बार उनका एक चाहने वाला बड़ी लम्बी यात्रा करके उनके दरवाज़े पर पहुँचा। ये वो दिन थे शेख बायज़ीद का हाल लोगों से छिपा हुआ था। चाहने वालों का वो जमघट न था जो कई साल पश्चात् हुआ। आने वाले ने आवाज़ दी तो अंदर से किसी ने डाँटकर कहा, “जा जा। बड़ा आया उस मुए निखटू के टटू शेख को पुकारने वाला! वो ढोंगी कहीं जंगल में लकड़ियों काटने के बहाने किसी पेड़ की छाँव में पड़ा खरटे लेता होगा। चल भाग नहीं तो सारी पीरी मुरीदी निकाल दूँगी।” कलंदर ज़रा मुस्कराए, “उस बेचारे ने भला यह मीठे बोल काहे को कहीं और सुने होंगे। हवास खोकर जो भागा है तो फिर शहर से निकल जंगल की ही राह पकड़ी। जंगल में प्रवेश किया ही था कि शेख के दर्शन हो गये वो एक ऊँचे तगड़े शेर पर सवार चले आ रहे थे। आने वाला दुनिया भर से बाहर का दृश्य देखकर डरा तो शेख ने फरमाया, “डरो नहीं। मैं उसकी सुनता हूँ तो यह मेरी सुनता है।”<sup>28</sup>

तद्द्युगीन परिवेश में साहित्य की प्रभावशाली अभिव्यक्ति के संदर्भ में कहानी के अंदर अपने समय के महत्त्वपूर्ण विद्वानों, अध्यापकों, हकीमों और शायरों का उल्लेख है तथा फ़ारसी एवं रेखा की अर्थगर्भित काव्य पंक्तियों से पूरी कहानी भरी पड़ी है। यह विभूतियाँ और काव्य की पंक्तियाँ मात्र उल्लेखित नहीं, अपितु उनका प्रयोग कथानक के विकास के साथ तद्द्युगीन परिवेश को जीवंत बनाता है। बू अली सीना (हकीम) अल्लामा तताजानी, कुतबुद्दीन बख़्तियार काकी, बाबा फरीद गंजशकर, मौलाना हज़रत कलीमुल्लाह साहब जहानाबादी, निज़ामुद्दीन औरंगाबादी, शाद फ़ख़रुद्दीन (सूफी) राजा राम नारायण मौजूँ, मीर शम्सुद्दीन फ़कीर, टेकचंद बहार, फ़ैज़ी, गनी कश्मीरी, मुनीर लाहौरी इत्यादि ऐसे नाम हैं जो कहानी में मात्र आये नहीं, आवश्यकता के तहत उल्लेखित किए गये हैं तथा परिवेश को जीवंतता प्रदान करते हैं।

यदि उस समय की दिल्ली की छवि उपनिवेशवादी मानसिकता प्रभावित विचारकों की छवि जैसी वास्तव में ही होती तो बुध सिंह कलंदर का जैसा चित्र प्रस्तुत किया गया है वैसा संभव नहीं था। उनका वह रूप देखिए, “कोई बाइस-चौबीस की उम्र, खुलता हुआ गोरा रंग। तुर्की या मुगल शैली की खूबसूरत तराशी हुई नोकदार दाढ़ी, ऊँचा माथा, नीलिमा लिए हरी आँखें पुखराज की तरह जगमगाती हुई। सर पर पीली हरी रेशमी बल देकर बाँधी हुई पगड़ी। लम्बी-ऊँची

गरदन में ज़बरजद की माला, कानों में मोती की मुकुरियाँ। बदन पर बहुत हल्के जामावार की हल्की हरी नीमा आस्तीन या ख़तान, जिसका सीना आज के नये चलन के अनुकूल बाई तरफ़ खुला हुआ। उसके नीचे महीन कपड़े का अंगरखा, इतना महीन कि उसके नीचे कुर्ता न होने की वजह से छाती के शेराना पट्टे साफ़ झलकते थे। अंगरखे की आस्तीन तंग और चुनी हुई। कसे हुए डंड, चौड़ी कलाइयाँ।”<sup>29</sup> यहाँ पर उनके कपड़े के संदर्भ में नये चलन अर्थात् नये फैशन का उल्लेख है। फैशन के कि धन की आवश्यकता होती है। नये चलन का संबंध व्यक्ति विशेष के बजाय अपने समय के बहुसंख्यक लोगों से होता है। कहने का आशय यह है कि, उसके नये चलन का कपड़ा भी उस समय की उच्च जीवन शैली का समर्थन करता है। यह निश्चित ही उपनिवेशवादी मानसिकता प्रभावित विचारकों की मान्यता का खंडन है। दिल्ली के वैभव के संदर्भ में भी एक दृश्य प्रस्तुत है- “क़िला-ए-मुअल्ला के पश्चिमी फाटक के सामने चौक सादुल्ला खान पर आज अजब बहार थी। यूँ तो वो जगह रोज़ ही दिल को लुभाने वाले अपने आकर्षण और गहमा-गहमी के लिए इस्फ़ाहावन रोम के लिए ईर्ष्या का अवसर होता है, परंतु बसंत के दिनों इसकी रौनक दस गुनी हो जाती है। हर वस्तु की बहुतायत, हर प्रकार के लोगों का जमाव। दास्तानगो, मौलवी, धर्मप्रचारक नाचने-गाने वाले लौंडे, कंचनियाँ, ज्योतिषी और रंगाल, हाथ की सफ़ाई दिखाने वाले, हकीम और वैद्य, विशेषकर वो जो गुप्त रोगों की दवा देते हैं और यौन शक्ति बढ़ाने वाली चीज़ों और औषधियों का धंधा करते और लोगों को लूटते हैं।

इसी प्रकार हथियारों के विक्रेता, चिड़ियों और पालतू जानवरों के विक्रेता, शिकारी जानवरों और कुत्तों के व्यापारी पिजड़े बनाने वाले, आइना बनाने वाले इस तरह के दुकानदार तो रोज़ ही होते हैं। बसंत के दिनों में इत्र और सुगंध के विक्रेता, फूल वाले, कपड़े-लत्ते के व्यापारियों और नाचने-गाने वालियों की भी बढ़ोत्तरी हो जाती।”<sup>30</sup> दिल्ली का यह वैभव कहीं से भी दिल्ली की पस्ती की निशानदेही नहीं करता है।

समृद्धि सौन्दर्य को गरिमय बनाती है। वही सौन्दर्य जो समृद्धि के कारण हैं उसे इस्मत जहाँ के रूप-सौन्दर्य के चित्रण में देखिए, “खुलता हुआ साँवला रंग, बड़ी-बड़ी काली रोशन दिल में घर करने वाली आँखें, घनी भँवों के नीचे से मुझे देखती हुई। लम्बे काले बालों की खजूरी चोटी सीने पर पड़ी। मुवाफ़ के बिना ही इतनी भारी कि गात को दबाए देती थी। हल्के किबरीती काम की ज़र्द मलमल का घेरदार जामा, जिसके दामन पर ज़रा भारी कश्मीरी काम बना हुआ था। जामा कमर पर बेहद तंग या शायद कमर ही बाल की तरह महीन थी।



ऊपरी बदन पर तंग कुरती जिसके नीचे मखमली पेट झलकता हुआ। कुरती के नीचे मनमोहक कसी हुई अँगिया। लम्बी गरदन में सुरमई सच्चे मोतियों का हार। गात के बीचो-बीच गरदन से ज़रा नीचे नीलम की धुकधकी जिसके चारो तरफ हीरे जड़े हुए। कानों में मटर के दाने के बराबर बिल्कुल यकरंग पन्ने की मुर्कियाँ जिनपर जयपुरी मीनाकारी। नाक में चने की दाल के बराबर माणिक की कील। कलाइयों में हरी करेलियाँ। उनके साथ ठोस सोने के शेर के मुँह वाले कड़े। पाँव में सुनहरी जगमग करती जूतियाँ, दीवार की इतनी नीची और दौड़ की इतनी छोटी कि पंजों और एड़ी को मुश्किल से ढँकती थीं। बाकी पैर पर मेंहदी की बनी पेचीदा फूल-पत्तियाँ साफ नज़र आती थीं। हाथों की केवल एक-एक उँगली में हीरे की अँगूठी, नाखूनों पर कुछ गुलाबी रंग का चमकीला रोगन, हथेलियों पर भी मेंहदी की पेचदार फूल-पत्तियाँ प्रमुखता से दिखती हुई दाहिनी कलाई पर लाल चमड़े की पट्टी और उस पर बाज़ का एक बच्चा। जामें का दमान थोड़ा उठा हुआ कि नाजूक-नाजूक टखने और सुडौल पिंडलियों की बनावट नज़र आती थी। पाँव में संभलपुरी पाज़ेबें, गुलबदन का पजामा इस कदर कसा हुआ कि लगता था बदन पर पहना नहीं मढ़ा गया होगा।<sup>31</sup> उसका यह रूप और उसकी शोभा के लिए प्रयोग किये गये संसाधन क्या उस दिल्ली में उसे मुहय्या हो सकते थे जो पतनशील और धन-वैभव से रिक्त हो चुकी थी?

सवार कहानी में बसंत के चित्रण का प्रसंग भी दिल्ली के वैभव और ऐश्वर्य एवं वहाँ की उच्च जीवन शैली को उद्घाटित करता है। बसंत के मेले का चित्रण वहाँ की सामासिक संस्कृति की शक्तिशाली परंपराओं को रेखांकित करता है। बसंत के उत्सव में डूबी दिल्ली का शम्सुरहमान फ़ारुकी ने बड़ा ही जीवंत चित्र प्रस्तुत किया है, “सारा शहर हल्के पिस्तई पीले रंग में डूबा हुआ था। क्या हिन्दू क्या मुसलमान बसंत की लगन सबको थी। सुल्तान जी निज़ामुद्दीन औलिया की दरगाह पर बसंती कपड़े पहने औरतों-मर्दों के झुंड शाम-सवेरे नज़र आते थे। पहले जमाने में मुसलमानों को इस मौसम और उसके मेलों से विशेष रुचि न थी। लेकिन हज़रत सुल्तान जी निज़ामुद्दीन औलिया साहब और अमीर खुसरो का संबंध बसंत के त्योहार से बना तो चैत के महीने का तीसरा सप्ताह होते-होते दिल्ली के सारे मुसलमान बसंती रंग में रंग जाते थे। चौद रात ही से बसंत चढ़ाने के आयोजनों का सिलसिला चल निकलता। सबसे पहले, अल्लाह मियाँ की बसंत भोजला की पहाड़ी पर जामा मस्जिद के नीचे चौद रात को चढ़ती। फिर दिन निकलने पर पैगम्बर साहब के क़दम शरीफ पर बसंत चढ़ाते। दूसरे दिन सबके कुतुब

ख्वाजा कुतुबुद्दीन साहब बख़्तियार काकी के दरबार में बसंत पेश होती और तीसरे दिन कच्चाल लोग हज़रत सुल्तान जी की खानकाह पर बसंत ले जाते। इस तरह दिल्ली के बाइसों ख्वाजा साहब लोगों की दरगाहों पर बसंत चढ़ती और हर बसंत के साथ कच्चालों, गायकों, अच्छी सूरत वालों, हाथों में इत्र, फूल, पान लिए हुए सैलानियों और दर्शनार्थियों की बहुत बड़ी भीड़ रहती।<sup>32</sup> चित्रित उपर्युक्त वातावरण और उसका आयोजन सुख-समृद्धि वाले शासन काल में ही संभव हो सकता है। इस तरह कहा जा सकता है कि राग-रंग से भरपूर वैविध्य से भरी दिल्ली निश्चित ही आधुनिकतावादियों द्वारा प्रस्तुत दिल्ली की भ्रामक छवि से मेल नहीं खाती है।

सवार न केवल विषय-वस्तु अपितु अभिव्यक्ति के धरातल पर भी अद्भुत कहानी के रूप में सामने आती हैं। शम्सुरहमान फ़ारुकी का विषय-वस्तु के समानान्तर ही भाषा और अभिव्यक्ति के दूसरे अवयवों का चुनाव इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि परिवेश को जीवंत बनाते हुए उनके द्वारा कहानी के लिए निर्धारित लक्ष्य को भी पूरा करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कहानी में प्रयुक्त शब्दावली, प्रतीक, बिम्ब और मुहावरे तद्दुगीन परिवेश की गंगा-जमुनी संस्कृति को प्रस्तुत करते हैं। कहानी विस्तार की दृष्टि से लघु उपन्यास-सी प्रतीत होती है अथवा यह कि, यह लम्बी कहानी है, यह मुद्दा स्वतंत्र रूप से विवेचन विश्लेषण की माँग करता है। इसे हम कुछ भी समझे, परंतु यह तो निश्चित है कि तद्दुगीन परिवेश में सक्रिय सर्जकों की दुनिया बहुत विशाल थी। वह जीवन और समाज के विविध क्षेत्रों में सक्रिय थे और वही जीवन और समाज ही उनकी सृजन-शक्ति का स्रोत था। अन्त में यह कहना अनुचित न होगा कि, सवार दिल्ली और उसके सामाजिक जीवन की ऐसी झाँकी प्रस्तुत करती है, जिसकी शिराओं में ज्ञान, धर्म दर्शन, काव्य कला संस्कृति सूफी साधना पद्धति उसका रक्त बनकर प्रवाहित हो रहा था।

#### संदर्भ-

1. सवार और अन्य कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, सं. 2013, पृ. 12
2. वही, पृ. 13
3. वही, पृ. 13
4. वही, पृ. 18
5. वही, पृ. 18
6. वही, पृ. 19
7. वही, पृ. 20
8. वही, पृ. 20-21
9. वही, पृ. 23
10. वही, पृ. 23
11. वही, पृ. 25
12. वही, पृ. 63
13. वही, पृ. 66

शेष पृ. 15 पर.....

## आफताब-ए-जर्मी : एक मूल्यांकन

डॉ. नगमा जावेद मलिक

शम्सुर्रहमान फ़ारुकी उर्दू अदब की एक अप्रतिम कद्दावर शख्सियत हैं। अंग्रेज़ी साहित्य में भी उनका नाम किसी तारुफ़ का मोहताज नहीं है। साहित्यकार पैदा होते हैं, बनते नहीं हैं। इसका प्रमाण उनका अद्भुत व्यक्तित्व है।

सात साल की उम्र में साहित्य की पहली कौंपल कविता की एक पंक्ति के रूप में उनके भीतर फूटी थी। महादेवी वर्मा, कुर्तुलएन हैदर के अदबी सफर का आगाज भी इसी उम्र में हुआ था। मैं समझती हूँ लेखक वही बनते हैं जिनके अंदर खुदादाद प्रतिभा होती है और यह प्रतिभा नदी की तरह अनजाने रास्तों पर चलकर अपनी मंज़िल खुद तलाश लेती है। बचपन से ही कलाकार मन में एक बेचैनी, एक उमड़न-धुमड़न होती है। भीतर-भीतर कुछ पकता रहता है, उबलता रहता है। शायद यह सृजनात्मकता की तपिश होती है जो रूह को बेकरार रखती है और इस बेकरारी को तब तक करार नहीं आता, जब तक वह अभिव्यक्ति का कोई माध्यम नहीं ढूँढ लेती है। कलाकार को बेचैन रूह का परिंदा कहे तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। उसकी विशिष्ट संवेदना ही उसे अन्य लोगों से अलग करती है।

शम्सुर्रहमान फ़ारुकी ने अपने लेखन की शुरुआत के जो हालात दर्ज किए हैं उनसे कमोबेश हर साहित्यकार गुज़रता है। दिल की तड़प जब फन में ढल जाती है तो प्रतिभा कहलाती है और प्रतिभा ही आदमी को कलाकार बनाती है।

उनके ही अल्फ़ाज में - 'उर्दू में आलोचना लिखना मेरे लिए अपनी भाषा की सेवा करना था और कविता करना एक गहरी न बताई जा सकने वाली व्यक्तिगत मजबूरी। कविता मेरे सीने में साँस की तरह और हृदय में रक्त की तरह हिलोरें लेती थी और जिस प्रकार साँस का बाहर निकलना हृदय के अंदर खून के संचार की जमानत था उसी तरह कविता करना मेरे लिए जीवन की आवश्यकता और प्रमाण था। काव्य रचना का मेरे जीवन में वही मुकाम था जिसे शेख सादी ने यूँ फरमाया है ...'हर साँस जो अंदर जाती है ज़िंदगी देती है/और जब बाहर आती है तो दिल को हल्का करती है।'

हार्डी के उपन्यासों ने उन्हें बहुत प्रभावित किया।

दूसरी तरफ शेक्सपीयर, गालिब और इकबाल को नकारना भी सम्भव न था। 'सुर्ख आँधी' कहानी को खूब सराहा गया। एम. ए. करते हुए उर्दू में शायरी का सिलसिला शुरू हो गया था। अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ी के माध्यम से दूसरी ज़बानों के साहित्य से भी गहरा परिचय हो चुकने के बावजूद भी वह काफी असें तक कहानी नहीं लिख पाए। शायरी अलबत्ता परवान चढ़ती रही। कभी-कभी वह मशहूर शायर और आलोचक सलीम अहमद के शब्द याद कर लेते थे कि शायरी हालाँकि मेरा कमजोर बच्चा है किन्तु फिर भी वह हाथी का बच्चा है।

शम्सुर्रहमान साहब के कहानी में मैदान मार लेने की दास्तान भी बेहद दिलचस्प है। कई अंग्रेज़ उपन्यासकारों ने भी उनके भीतर सोये कहानीकार को जगाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। लेकिन सच तो यह है कि 'अफ़साना-ए-गालिब' या 'गालिब अफ़साना' ने उस दरवाजे को खोल दिया जो मुद्दतों से बन्द था और किसी दस्तक का मुन्तज़िर था। लेखक ने जो भूमिका लिखी है, वह भी किसी कहानी से कम दिलचस्प नहीं हैं। सादगी और पुरकारी उनके लेखन की बेमिसाल अदा है, न बनावट, न दिखलावट, न बड़े होने का कोई गुमान.... कौन न मर जाए इस सादगी पर.... मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि उन्हें शब्दों की जादूगरी आती है। अलाउद्दीन के चिराग की तरह सीधे-सादे अल्फ़ाज भी एक रगड़ खाकर अर्थों का एक शीशमहल इस तरह खड़ा कर देते हैं कि यथार्थ और कल्पना के दीयों से उनका लेखन जगमगा उठता है।

'आफताब-ए-जर्मी' कहानी से राजो-नियाज करने से पहले मुझे मुनासिब मालूम हुआ कि हिन्दी के पाठकों को उनके अनूठे लेखकीय व्यक्तित्व से आशना करा दिया जाए। इसको एक लम्बी कहानी या छोटा उपन्यास भी कहा जा सकता है। कहानी के बारे में वे लिखते हैं कि इसमें दिल्ली की झलक भी है और दिल्ली की मानसिक सन्तान या उसके वारिस के बतौर लखनऊ धीरे-धीरे खुद को स्थापित कर रहा है। परन्तु उसके लिए शजाऊद्दौला और सआदत अली खॉं के खून की गर्मी खुद उसके खलिहान की बिजली बन

गयी-‘आफताब-ए-जर्मी हूँ लेकिन/मुझसे रोशन है आसमान-ए-सुखन।’

यह शेर उनके साहित्यकार व्यक्तित्व को भी ध्वनित करता है। ‘आफताब-ए-जर्मी’ में इतिहास की झिलमिलाती सच्चाइयों को बड़े बाँकपन से सहेजा गया है। रूसी साहित्यकारों की तरह बारीक बीनी, तथ्यों की बेलाग प्रस्तुति के साथ ही एक सौम्य रवानी है जो हर उबड़-खाबड़ से आँखें चार करती है। कहानी की शुरुआत ही पाठक की जिज्ञासा के पंख खोल देती है। आख्यान के विषय में लेखक का कहना है कि इसमें वफा के संस्मरणों और उनके पारिवारिक पत्रों का योगदान है साथ ही मुसहफी के गद्य और पद्य की सहायता भी ली गयी है। शम्सुर्रहमान का कहना है कि प्रो. नूरुल हसन नकवी की कृतियों से लाभ उठाए बिना मुसहफी के बारे में प्रमाणिक और विश्वसनीय रूप से कुछ भी कहना संभव नहीं है। इसलिए उनके काम को भी मदेनज़र रखा गया है।

आख्यान की शुरुआत दरबारीमल वफा से होती है जो शेख साहब के नदीदा आशिक थे क्योंकि माँ ने हमेशा वफा से उनका ज़िक्र किया था, वे वफा के पिता जी के उस्ताद थे और पिता जी हृदय से उन्हें चाहते थे और उनका सम्मान करते थे। किताब का पहला पैराग्राफ ही पाठक के पाँव में जंजीर डाल देता है और संग-संग चलने के लिए विवश करता है। किस्सागोई की यह एक अप्रतिम मिसाल है।

बहरहाल, मुझे बताया गया था कि उस ध्वस्त हवेली के खंडहरों के ज़रा पहले एक अँधेरी-सी गली और है। उसमें प्रवेश कर जाएँ। वह आपको थोड़ा घुमाव-फिराव दिखाएगी किन्तु आखिर में गन्दा नाला नमक मुहल्ले के फाटक पार लाकर छोड़ देगी। वहाँ पहुंचकर पूछ लीजिएगा कि राजा जाऊ लाल के दरोगा के वंशज कहाँ रहते हैं।<sup>2</sup> खंडहरों से भी एक दास्तान जुड़ी है। जिसे विस्तार के भय से यहाँ नहीं दे रही हूँ।

कथावाचक उस्ताद मुसहफी की घरवाली हयातुन्निसा बीबी उर्फ भूरा बेगम से मिलने को उत्सुक है। गली-कूचों में भटक रहा है। साथ ही साथ आप भी भटक रहे हैं .... बरसात के दिन, सख्त उमस वाली गर्मी और उस पार तुरा यह कि रास्तों की बदबू और कीचड़। मैं तो थक-हार गया ही था, मेरे साथ जो मजदूर तोहफों की सीनी उठाए चल रहा था। वह भी मेरी आवारागर्दी के कारण अब कुछ जी छोड़ता हुआ-सा लग रहा था। मुख्तसर-सी पंक्तियों में मौसम, परिवेश, संस्कृति और रीति-रिवाज भी आपके सामने हाथ बांधे खड़े हैं और आख्यान का लुप्त भी आ रहा है।

कथावाचक दरबारीमल वफा के दादा और पिता चांदी वाले के नाम से मशहूर थे क्योंकि चांदी का व्यापार उनका

पुश्तैनी पेशा था। आज धनवान लोग मोटरकार रखते हैं उस समय इराकी घोड़े सवारी के काम में आते थे। कांजी मल सबा यानी कथावाचक के पिता का स्वर्गवास उस समय हुआ जब वह दूध पीते बच्चे थे। पिता का कारोबार मामा के लड़के अजयचन्द के सुपुर्द कर ननिहाली लोग माँ को पटना ले गए। लेकिन बाद में उन्हें नाना के हजारीबाग के घने हरे-भरे जंगलों के बाहरी सिरे पर एक छोटे से पहाड़ी चश्में के दामन में बने सुन्दर देहाती बंगले में भेज दिया गया। माँ फिर कभी वहाँ से न लखनऊ गयीं न पटना।

वफा के पिताजी को अपने उस्ताद हजरत शेख गुलाम हमादानी मुसहफी से बेपनाह अकीदत व मुहब्बत थी। ‘हजरत शेख जब से लखनऊ तशरीफ लाए थे उसी वक्त से मेरे पिता की तरफ से सर झुकाकर विनम्र सेवा और हजरत उस्ताद की तरफ से मेहरबानी और शिक्षा-दीक्षा का सिलसिला जो शुरू हुआ तो प्रिय पिता जी के स्वर्गवास होने पर ही खत्म हुआ।’

यहाँ कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं। वफा का अपने पिता से बिन देखे ही बेअंदाजा लगाव व प्रेम और साथ ही पिता के गुरु के प्रति श्रद्धा। इससे उस काल में परवरिश पाने वाले बच्चों के संस्कारों का भी अंदाजा लगाया जा सकता है। इसका श्रेय माँ को भी जाता है कि वह जब भी लखनऊ की बात करती थीं हजरत का ज़िक्र ज़रूर करती थीं और माँ की जबानी उनकी बातें सुन-सुन कर हजरत के प्रति एक लगाव पैदा हो गया था और माँ के देहान्त के बाद ही हजरत के इन्तकाल की खबर सुनकर दरबारीमल को गहरा धक्का पहुँचा था। उस जमाने में हिन्दुओं में भी पर्दे का रिवाज था लेकिन माताजी हजरत से पर्दा नहीं करती थीं बकौल कथावाचक के शेख साहब के व्यक्तित्व में कुछ ऐसी मोहिनी थी और उनके वजूद में कुछ ऐसा जादू भरा था कि माताजी चाहे-अनचाहे उनकी बेटी बन बैठी थीं। लेखक ने इस बात को भी प्रकट करने की कोशिश की है कि उस काल में हिंदू-मुस्लिम के बीच साम्प्रदायिकता की कोई चिंगारी नहीं थी, सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध थे। अपनत्व की एक महक थी। मानवीयता का उजाला था। हिन्दू-मुस्लिम आपस में शीर-ओ-शक्कर की तरह घुले-मिले थे। धर्म भले ही अलग थे लेकिन दिलों के बीच दूरी नहीं थी।

अपने बचपन के जो हालत वफा ने कलम के सुपुर्द किए हैं उससे उस समय का यथार्थ अपनी आँखें खोले हमारे सामने उपस्थित होता है। वफा ने घर पर ही उस्तादों से हिन्दी, फ़ारसी, अरबी, गणित और दूसरे ज्ञान प्राप्त किए थे। खुदा-ए-सुखुन, मीर, सौदा, ख्वाजा मीर दर्द, हजरत शेख मुसहफी के काव्य-संग्रहों को उन्होंने बार-बार पढ़ा था और ‘वफा’

तखल्लुस अपने नाम के साथ टाँक दिया था। वफा के दिल में अरमान था हजरत के किसी मशहूर शार्गिद जैसे आतश या असीर की शार्गिदी का धागा कमर से बांध लें। लखनऊ के बारे में मीर ने फरमाया था.... 'जिस तरफ देखो मरीका-सा है/शहर है या कोई तमाशा है/चश्म-ए-बददूर ऐसी बस्ती है/यही मकसद है मुल्क-ए-हस्ती है/लखनऊ दिल्ली से भी बेहतर है/कि किसू दिल की लाग इधर है'

वफा ने चाचा को लिखा-मैं आगे की पढ़ाई के लिए लखनऊ आना चाहता हूँ। जवाब आया.... 'हम तुम्हारी राह देख रहे हैं... अब तुम आ ही जाओ, खाना वहाँ खाओ तो पानी यहाँ पीयो। सबकी आँखें तुम्हारे लौटने पर ही लगी हुई हैं।'<sup>3</sup> अंधा क्या चाहे दो आँखें... फौरन जाने की तैयारी की। उस जमाने में रेले तो थी नहीं सामान और तोहफे बहली पर लादे, दो नौकर साथ लिए, अपने लिए दो बढ़िया घोड़े चुने। शादी की नहीं थी हालांकि उम्र 28-30 की हो रही थी इसलिए कुटुम्ब, कबीला का कोई झगड़ा-टनटा साथ न था। शिकारबाजी, बिनौट, बन्दूक और तमंचा चलाना यही उन दिनों वफा के शौक थे। शम्सुरहमान के लेखन की महती विशेषता यह है कि इतिहास की कलम, कल्पना की रोशनाई और संस्कृति के पन्ने साथ लेकर ही चलते हैं। ज्योतिष विद्या उस समय उच्च वर्ग में शिक्षा का एक अंग थी। वफा का कुंडली बनाकर शुभ मुहूर्त निकलना इसका प्रमाण है।

चित्रात्मकता ऐसी कि मंजर आपके रू-ब-रू पूरी जीवंतता के साथ उपस्थित हो जाता है .... 'महेन्दुघाट पर गंगाजी की शान थी कि बस। 'हर तरफ चमकती चमकीली लहरें, लम्बा-चौड़ा घाट, नदी के पाट की सर चकरा देने वाली चौड़ाई, किशतियों, छोटे-बड़े बज्रों, निवाड़ों का हुजूम, रईसों की मोर पंखियों की झकाझक करती चहल-पहल, बोझ उठाने वाले खलासियों का शोर, ऊँटों का अड़ना अड़ना, घोड़ों की हिनहिनाहट, गधों का रेंकना, बच्चों की चीख-पुकार, नावों पर चढ़ाई जाती बैलगाड़ियों, बहलियों और रथों की चरख-चूँ, कई बड़ी किशतियों से सुबह के नाश्ते की तैयारी का धुआँ अब तक उठता हुआ, कहीं ब्राह्मण देवता लोग सूर्य और गंगा मैया की पूजा एवं संस्कारों में तन्मय, एक पूरी दुनिया थी जिससे मैं अब तक बेखबर रहा था।'<sup>4</sup>

अब ज़रा लखनऊ का परिचय देखिए.... 'जुमे का मुबारक दिन था और 7 जुलाई, 1825 की तारीख, जब के जोड़ीदार रंगों और सुगंधों के देश की राजधानी शहर लखनऊ में आ पहुंचे। अल्लाह-अल्लाह क्या शहर क्या शहर की बाहरी आबादियाँ सब हल्के गुलाबी रंग में रंगे हुए से लगते थे।'<sup>5</sup> तहरीर का कमाल यह है यथार्थ की आमेजिश के लिए तारीखी

चरित्र रखे गए हैं जैसे उस वक्त लखनऊ में सफतउद्दौला, हैदर खान बहादुर बादशाह गपजी का सफल शासन था। लखनऊ में आने के बाद ही वफा ने एक बारात में अमीरी और गरीबी की चरम सीमा का जो वर्णन किया है वह दिल दहलाने वाला भी है और इस क्रूर हकीकत को भी सामने लाता है कि दरिद्रता किसी काले नाग की तरह हमेशा गरीबों को डसती रही है और शराबी और बदमाश लोगों की दादागीरी का भी वे हमेशा शिकार रहे हैं। एक दृश्य देखिए- 'नौउम्र लड़कियाँ मैले चीकट दुपट्टे ओढ़े, पाजामे उनके चीथड़े, अक्सरों के बदन कुर्ते या शलूके से वंचित, बालों की जगह बये की झोंझ-सी सर पर बनाये, उधर से लौड़े-लफंगे, भिखमंगे जिनका हाल लड़कियों से भी बदतर। चेहरों पर वहशत टपकती हुई, मिट्टी-धूल से अंटे होने के कारण बालों का रंग काले की जगह गंदा माशी। कड़ियों के बदन पर केवल एक काली या कलौंच लिए हुए गजी की लंगोट और एक दो तो बगैर इसके ही। सबके बदन से पसीने और मैल और चिकटे तेल की दुर्गंध फूटती हुई। उन्हें ना हाथियों के पाँव तले आने का डर था न ऊँटों के चौड़े खाई जैसे जबड़ों के अंदर सर देने का। दो-चार तो हमारे सामने घायल हुए। एक की खोपड़ी घोड़े की टाप से चूर-चूर हुई और फिर जब रुपया-अशर्फी फुलवारी लूटने वाले सफल होकर बारात की भीड़ से बाहर निकले तो शराबी बदमाशों ने अक्सर कमजोर औरतों और बूढ़ों को चाकू दिखाकर या केवल डरा-धमकाकर सारी लूट स्वयं हथिया ली।'<sup>6</sup> प्रतिरोध करने वालों को जान भी गँवानी पड़ी। दूसरी ओर बारात की सज-धज का वर्णन भी मुलाहेजा फरमाइए .... 'खेमों और शामयानों का एक मुहल्ला था जो पहियों, रथों, ऊँटों और कहारों के सहारे सुलेमान पैगम्बर के चलते-फिरते तख्त का नमूना पेश कर रहा था। बारात के साथ बेशुमार नौकर-चाकर और सिपाही भी थे।'<sup>7</sup>

लेखक ने यह भी रेखांकित किया है कि चाचा-चाची ने वफा की खूब आवभगत की और बाप की दुकान की कुजियाँ, जमीनों और मकानों के कबाले और हिसाब-किताब के कागज़-पत्तर सौंप दिए और यह कहने में भी कोई संकोच नहीं किया कि 'स्वर्गीय भाई की सम्पत्ति और दुकान से जो लाभ हुआ उसका पाई-पाई का हिसाब मौजूद है....लेकिन वह सारा लाभ हमने अपने ऊपर खर्च किया अब तुम इसे हमारी देखभाल का पारिश्रमिक समझो या उधार के समान....'<sup>8</sup>

वफा ने कहा..... 'आपका जो अधिकार था वह आपने लिया। अब आप मेरी अमानत मुझे वापस दे रहे हैं इससे बढ़कर मैं और क्या चाह सकता हूँ।'<sup>9</sup>

शराफत भी हर जमाने में रही है और साथ ही साथ ऐसे

लोगों की भी कमी नहीं रही है जो दूसरों के माल को हथियाने में भी कोई शर्म महसूस नहीं करते। वफा ने दुकान के कार्यों को समझने के बाद हजरत शेख के वंशजों की तलाश शुरू की। सलारू मियाँ के बताए पते पर वफा पहुंचे तो जिस घर में हजरत शेख पहले रहते थे वहाँ किसी ने नाजायज कब्जा का लिया था। चुगगी दाढ़ी वाले बूढ़े ने उस्ताद मुसहफ़ी की बेवा के लिए निहायत बुरे अल्फाज कहे थे जिसे सुनकर वफा का खून खौल उठा था। किस्सा मुख्तसर बड़ी खाक छानने के बाद आखिरकार वफा ने नाले पर टिके उस छोटे से कच्चे-पक्के घर को ढूँढ़ ही लिया। जहाँ नाले की दुर्गन्ध, कूड़े के ढेर थे, जिन पर भैंस, सुअर और कुत्तों का डेरा था। कथावाचक को हजरत के दोस्त मीर हसन के शेर याद आ गए-‘जे बस’<sup>10</sup> ये शहर बीहड़ पे बसता/कहीं ऊँचा कहीं नीचा है रस्ता/किसी का आसमां पर घर हवा में/किसी का झोपड़ा तहतस्सरा’<sup>11</sup> में/हर एक कूचा यहाँ का तंगतर है/हवा का भी ब मुश्किल वां गुज़र है’

फ़ारुकी साहब के लेखन की अप्रतिम विशेषता यह है कि यथास्थान शायरी ने जहाँ कथा को रोचक बनाया है वहीं स्थिति को और भी स्पष्ट किया है।

घर में पहुँचने का हाल बड़ी तफसील से बयान किया गया है। दस्तक देने पर एक दस-बारह साल के लौंडे ने दरवाज़ा खोला। जब वफा ने बताया कि स्वर्गीय लाला कांजीमल सबा का बेटा दरबारीमल वफा बिहार के इलाके से सलाम को हाजिर हुआ है तो फ़ौरन उन्हें बिठाने के लिए लड़के ने चटाई, मोढ़ा, तिपाई अंदर से लाकर सलीके से रखे। पानी दिया। वफा ने मजदूर को इशारा किया कि सर पर रखी सीनी मुहम्मद रज़ा को थमा दे। उस जमाने के रिवाज के मुताबिक सीनी में चादर तले भागलपुरी रेशम का एक थान। एक थैली में लखनवी शाही टकसाल के 101 रुपये और एक टोकरी में लखनऊ के सुप्रसिद्ध हलवाई शेख कोली के यहाँ की मिठाई थी। निहायत हल्के उत्तम कोटि के खमीरे से तैयार किया। हुक्का भी उस समय स्वागत का एक हिस्सा माना जाता था, वह भी पेश किया गया।

बेगम साहिबा ने पर्दे के पीछे से बातचीत का सिलसिला शुरू किया....“मियाँ साहबजादे आपने यहाँ तशरीफ लाने का कष्ट किया। यही बहुत था इस पर इतने तकल्लुफ और सामान की क्या ज़रूरत थी। मैं तो आपकी अगवानी और खातिरदारी का कुछ भी बंदोबस्त न कर सकूँ हूँ। मुझे नाहक शर्मिन्दा किया आपने। किन शब्दों में शुक्रिया अदा करूँ।”<sup>12</sup> भूरा बेगम ने वफा से कहा बहुत हिचकिचाते हुए कि ‘मैं बेवा औरत इतने कीमती कपड़े कहाँ पहनूंगी?’

अगर आप बुरा न मानें तो कहीं बेच दूँ।’  
वफा ने कहा, आपका माल है जिस तरह चाहें काम में लायें।

‘मेरी माताजी को हजरत बहू समान समझते थे। मुझे हजरत के हालत सुनने की हार्दिक इच्छा है।’<sup>13</sup>

‘लाल मियाँ, आप तो मेरे बेटे की तरह ठहरे। जब जी चाहे तशरीफ लाएं, शेख साहब की बातें याद करके मेरा भी दिल बहलेगा।’<sup>14</sup> भूरा बेगम ने कहा।

कहानी में कथा की रवानी कहीं उकताहट पैदा नहीं करती। रोजमर्रा की घटनाएँ, परिवेश में बदलाव की हल्की-सी भी रेखा को नज़रअंदाज नहीं किया। यही चीज़ कथा को गति देती है और उसे अधिक जीवन्त बनाती है।

अगली बार भूरा बेगम ने वफा से पर्दा नहीं किया अपने बच्चे की तरह उन्हें घर के भीतर बुलवा लिया। लेखक ने छोटे से घर का नक्शा भी इस तरह खींचा है कि बारीक से बारीक चीज़ को भी कलम के दायरे में समेट लिया है और भूरा बेगम का नाम भूरा क्यों पड़ा उसे भी वफा की जबानी ही सुने तो ...‘उनकी आयु यही 45-46 की रही होगी। नाटा-सा कद, नर्म बदन। बहुत गोरा रंग, गोल चेहरा जिसका नक्शा नाजुक और झुर्रियों से वंचित। पतले-पतले होंठों पर पान का लाखा जमा हुआ। नाक ज़रा दबती हुई-सी जैसे कम उम्र वाली लड़कियों की होती है, सर पर दुपट्टा लेकिन बहुत भारी चोटी पीठ पर लटकती हुई। बालों का रंग कभी भूरा सुनहरा रहा होगा किन्तु अब कहीं-से मलगजा होने लगा था। बहुत बड़ी-बड़ी कुछ हरियाली लिए हुए भूरी आँखें।’<sup>15</sup> शायद शेख मुसहफ़ी ने उनकी आँखों के लिए ही कहा था....‘हैं तेरी सेहर-ए-सामिरी’<sup>16</sup> आँखें/न करें क्यूँ के कफिरी-सी आँखें/जहर खाते हैं इन पे क्या-क्या लोग/हैं जो केरी-सी हरी आँखें/मुसहफ़ी कितनी जेब’<sup>17</sup> देती हैं/गोरे चेहरे पे सांवरी आँखें।’

शेख साहब के बारे में भूरा बेगम ने बताया कि शेख साहब खुले जहन के व्यक्ति थे, शियाओं में शिया, सुन्नी में सुन्नी और अधर्मियों में अधर्मी। भूरा बेगम की माँ ने अकाल में अपनी सवा-डेढ़ साल की बच्ची को जन्म आरामगाह मिर्जा मंगली मरहूम की हवेली पर बेच दिया था। बच्ची का नाम मिर्जा की बेगम ने हयातुन्निसा रखा, लेकिन उनके भूरे बालों और भूरी आँखों के कारण वे उन्हें भूरा बेगम कहने लगीं। वह पाँच साल की हुई तो मिर्जा मंगली ने उन्हें अपने अंगरक्षक दस्ते के कप्तान फतह अली खान और उनकी बेगम को सौंप दिया, उनके कोई औलाद नहीं थी। यहाँ भी उनकी परवरिश शिया तरीके से हुई।

उन्हें फ़ारसी और गणित भी सिखाया, नौहा और



मर्सिया पढ़ने की बारीकियाँ भी बतायीं। हालाँकि वह वहाँ खादिमा के तौर पर रहीं लेकिन आसानियाँ घर की तरह हासिल थीं। कप्तान फतह अली खान को मंगली की नवाबी में जफरउद्दौला खिताब मिला। वे रियासत की फौजों के सबसे बड़े कमीदान मुकर्रर हुए। शेख साहब का आना-जाना कप्तान के घर में था। लेखक ने बड़े ही सुन्दर ढंग से शेख और भूरा बेगम की पहली मुलाकात का जिक्र किया है। वह पानों भरा खासदान लेकर दीवानखाने में रखने गयीं थीं। शेख के आकर्षक व्यक्तित्व ने उन पर जादू-सा कर दिया। गोरा रंग, लम्बा कद, चौड़ी कलाइयाँ, भरे-भरे डंड, सुतवाँ नाक, मुस्कुराती आँखें... अल्लाह क्या आँखें थीं। बड़ी आँखों पर लम्बी-लम्बी पलकें क्या भला औरतों की होंगी और फिर कुछ दिनों के बाद शेख उन्हें मुताह करके अपने घर ले गए। भूरा बेगम से किसी ने पूछा तक नहीं तू चाहती क्या है ? यहाँ लेखक ने इंगित किया है कि औरत का उस समय भी अपना कोई अस्तित्व नहीं था। हालाँकि इस्लाम ने लड़की से पूछकर ही रिश्ता तय करने की बात कही है। मजहब में औरत को दिए गये अधिकारों को भी आहिस्ता-आहिस्ता पुरुषों ने छीन लिया। उस जमाने में निकाह तो खादिमाओं के लिए दूर की चीज़ थी, मुताही भी नसीब वाली समझी जाती थी। वरना तो अक्सर यूँ ही घर में डाल ली जाती थीं।

भूरा बेगम को कप्तान साहब के किसी नौकर से मालूम हुआ कि उनके बाप ने उनकी माँ को छोड़कर किसी आदिवासी औरत को घर में डाल लिया था और माँ किसी और के घर में पड़ी रही। भूरा बेगम का कहना था कि उनके माँ-बाप की जात शायद उनसे इसलिए छुपाई गई कि वह किसी नीच जाति के थे और शायद मुसलमान भी नहीं थे। वफा देख रहे थे कि उनके कुल्हिया बराबर घर के कोने-कोने से दयनीयता टपकती थी। वह उनकी मदद भी करना चाहते थे और दादा उस्ताद की बातें जानने उनके तौर-तरीके समझने की ख्वाहिश भी लपट-लपट जल रही थी। वह सोचते थे वह शख्स कैसा होगा जिसने ऐसी कविताएँ लिखी हैं। दादा उस्ताद की कविताएँ वफा की नस-नस में उतर गई थीं।

लखनऊ के मौसम के तेवर भी बिगड़े हुए थे। उमस भरे दिन और भूरा बेगम जूड़ी के बुखार में तप रही थीं। बारी का ताप हर तीसरे दिन हरहरा कर चढ़ता था। इतने बड़े लखनऊ में गरीब मरीजों के लिए कोई शाही चिकित्सालय भी नहीं था। एक-दो अंग्रेज इलाज करते थे लेकिन अक्सर लोग वहाँ जाने से कतराते थे क्योंकि धर्म, जाति और जान जाने का खतरा उनके मन में समाया हुआ था। वफा ने कुछ रकम भूरा बेगम के सिरहाने रख दी और मुहम्मद राजा को देख-रेख

के तरीके समझाए और कहा कि ज़रूरत होने पर बेझिझक बुलवा ले।

इस पुस्तक से इस बात का अंदाज़ा भी बखूबी हो जाता है कि अंग्रेजों के प्रति लोगों के दिल शक से भरे हुए थे। दूसरे यह भी वहम था कि उनकी दवाई खाकर धर्म भ्रष्ट हो जाएगा। साथ ही सरकार गलत और लापरवाही की तरफ भी इशारा किया है।

यहाँ तक की कहानी वफा की जबानी है। आगे की कहानी भूरा बेगम की जबानी है। भूरा बेगम ने वफा को बताया कि वह जब साहब की मुताही बीवी बनकर आयी तो रमजान का महीना शुरू हो चुका था। कप्तान की बेगम ने चार जोड़े साथ कर दिए थे। कुंदन और चाँदी के हल्के-फुल्के जेवर तो उन्हें मौके-मौके से इनाम में मिलते रहे थे। उनके जाने पर न कोई रोया न किसी ने कलेजे से लगाकर रुखसत ... यहाँ अवसाद की एक लाचार भावना सुनाई देती है। भूरा बेगम रोजे से थीं। शेख साहब कुछ छेड़छाड़ बोस-ओ-किनार करना चाहते थे लेकिन भूरा बेगम उन्हें परे कर रही थीं। लेखक ने बड़े खूबसूरत और प्रभावशाली ढंग से इन स्थितियों को कलमबद्ध किया है। भूरा बेगम का नमाज़ पढ़ना, शेख का बोसा लेना, भूरा बेगम का दुपट्टे से अपना मुँह रगड़ना और कहना 'आपने मेरा रोजा खराब कर दिया।' मुसहफी का मनमोहक लहराती आवाज़ में ग़ज़ल कहना... 'मैं अपने शौक को दूँ तूल अब कहाँ तक जन/गरज यही है मेरी मुसहफी का कहना मान/तेरा तो अब भी है काबू समझ, न हो नादान/गले डाल दे बाहें कि निकले टुक अरमान/असीर-ए-रंज-ए कुहन गम से छूट जाएगा /किनार-ओ-बोस में रोजा न टूट जावेगा।'

ग़ज़ल तो बहुत बड़ी है। मैं विस्तार के भय से कुछ ही शेर दे रही हूँ। भूरा बेगम दिन भर उनके पुरलुत्फ वाक्य सुनती रही और अंदर ही अंदर मुस्कुराती रहीं। शेख की काम वासना की आग की गर्मी से भूरा बेगम का बदन भी तमतमाने लगा था। उस रात भूरा बेगम ने उन्हें कामयाब और मुग्ध होने दिया। सुबह भूरा बेगम ने आबदारखाने जैसे ठंडे पानी से स्नान किया। मुसहफी ने पीछे से आकर माथा चूम लिया और ग़ज़ल शुरू की जिसकी दो पंक्तियाँ पाठकों को सौंप रही हैं- 'रात तुझको मुसहफी जी से दुआएँ दे गया/सर से लेकर पाँव तक तेरी बलाएँ ले गया।'

बहुत बाद में भूरा बेगम को मालूम हुआ कि यह शेर उन्होंने किसी और के लिए कहा था। शेख साहब पुरानी सुन्दरियों को पूरी तरह भुला नहीं पाते थे और ज़िन्दगी में हर मौके पर हसीं लड़कियों का जमघट उनके लिए मौजूद रहता था। इस मामले में वह कुछ मजबूर से थे। जो औरत उन्हें जो

दो-चार बार देख या सुन लेती उन पर मानो लट्टू होकर रह जाती थी। वह कुछ ज्यादा रसिक थे। उनकी हुस्नपरस्ती के चलते कुछ साल भूरा बेगम को भी मानसिक विषाद से गुज़रना पड़ा, फिर उन्होंने अपने जी पर पत्थर रख लिया। शेख साहब की रसिकता पर भूरा बेगम ने प्रकाश डाला है। भूरा बेगम के शब्दों में ... “शेख साहब मुझे अच्छे तो बहुत लगते थे उनमें प्रियतम बनने की शान थी ही। इसकी मुझे आकांक्षा ही हो सकती, आशा नहीं, कि जिस दिल से मैं उन्हें चाहूंगी उसी दिल से वह भी मुझे चाहेंगे।”<sup>18</sup>

शेख साहब की आर्थिक स्थिति के बारे में भी भूरा बेगम ने बताया कि वह न बिल्कुल फटेहाल थे न ही धनवान। मिर्जा सुलेमान शिकोह बहादुर की नाइंसाफी की वजह से दुखी होकर शेख साहब एक लम्बी अवधि तक घर बैठ गये थे। फिर पंडित विद्याधर जैसे जिगरी और अपने तीन शार्गिदों के आग्रह पर वह शहर के बाहर रोशनआरा बाग के मासिक मुशायरों में हिस्सा लेने लगे थे। शार्गिदों से कुछ भेंट-नज़राना आ जाता था। जफरुद दौला कप्तान फतेहअली खान और एक दो दूसरे रईस कुछ रकम दे देते थे। इस तरह उजले खर्च न सही दो वक्त की रोटी आराम से मिल जाती थी। भूरा बेगम उनके मजहब के बारे में भी उलझन में थीं। वह न रोजे रखते थे न नमाज़ पढ़ते थे। कभी शियाओं को जाहिल और राह से भटका हुआ बताते, कभी सुन्नियों को बुरा कहते। ईद की नमाज़ पढ़ने भी शायद रमजान के शुरू में पंडित विद्याधर द्वारा तोहफे में दिया गया बेहद प्यारा चुलबुला कठियावाड़ी टट्टू दिखाने गये थे। कप्तान बेगम ने भूरा बेगम के लिए ईद का जोड़ा भेजा था। जिसे पहना देखकर शेख साहब ने फरमाया-“हम भी कभी कहें न कि कपड़े उतारिए/पहना करें गर आप इसी वजअ का लिबास।”

ईद के दिन कप्तान बेगम ने भूरा बेगम को बुलाया था। नमाज़ पढ़कर शेख साहब उन्हें ले जाने वाले थे। लेकिन वह तो यार दोस्तों में ऐसा खोए कि रात गये लौटे। भूरा बेगम ने रो-रो कर आँखें सुजा ली थीं घर पहुँच कर भूरा बेगम ने दरवाज़ा जो बंद किया तो खोला ही नहीं। शेख साहब बार-बार दस्तक देते रहे। सुबह उनकी आँख खुली, दरवाज़ा खोला तो देखा कि वह वहीं सोये थे। जागने पर उन्होंने शेर पढ़ा-जब रात सर पटकने ने तासीर कुछ न की/नाचार मीर मुटकिरी-सी मार सो रहा

पुस्तक में भूरा बेगम के अहम् को जागृत दर्शाया है। नारी अस्मिता को वह किसी भी हाल में सुरक्षित रखती हैं। इस अवसर पर वह उनसे पूछती हैं यह बताइए कि आप शिया हैं या सुन्नी... आपने मुझसे निकाह क्यों न कर लिया। शेख

साहब का जवाब था...

‘हाँ! मैं पैदाइशी सुन्नी हूँ, किन्तु वास्तव में....’<sup>19</sup>

‘आपके यहाँ मुताह हराम है।’ भूरा बेगम ने कहा।

‘लेकिन आपके यहाँ तो जायज है।’

‘लेकिन जब आप मुताह मानते ही नहीं तो मैं बस आपकी रखैल ठहरी। फिर मैं यहाँ क्यों ठहरूँ, चौक में जाकर बैठ जाऊँगी।’<sup>20</sup>

‘छी, ऐसी बात नहीं कहते, वह ऐसे लहजे में बोले गोया भूरा बेगम नन्हीं-सी बच्ची हैं।’ अच्छा मैं तुम से निकाह कर लूँगा, कसम खाकर कहता हूँ। कहो तो जनाब-ए-अब्बास की कसम खाऊँ, कहो बीबी खदीजा की सौगंध उठा लूँ।’<sup>21</sup>

भूरा बेगम और उनके दरमियान इस बात पर काफी देर तक बात हुई। आखिर में भूरा बेगम ने उनके लहजे में सच्चाई की खुशबू महसूस की... वो शब्द, वो वादा, वो ताज़ा कश्मीरी सेबों जैसी रस टपकाती आवाज़, वह मन मोहनी मुस्कान... शायद उन्होंने मुझ पर मोहनी पढ़ भी दी<sup>22</sup> और फिर हमादानी उन्हें लेकर पूरा दिन उसी कमरे में बंद रहे जिसकी चौखट से लगकर रात गुज़ारी थी। दरवाज़ा बार-बार खटखटाया गया, कभी भंगन, कभी भिश्ती, कभी कोई शार्गिद या दोस्त। लेकिन यहाँ खाने-पीने की सुध तो थी नहीं, कुंडी कौन उतारता और दरवाज़ा कौन खोलता...रात गये वह अकबरी दरवाज़े से निकलकर पक्के से पुल से शीरमाल और कबाब ले आये।

भूरा बेगम सोचती थीं कि शेख साहब ने या तो गरीबी की वजह से उनसे निकाह नहीं किया या वह अपनी स्वतंत्रता बनाए रखना चाहते थे। किन्तु उन दिनों तो वह सारा दिन घर बैठे उनसे चुहले करते-करते, उनकी तारीफ करते, कभी उनके सुझाव हाथ-पैरों की बात करते, कभी कहते कि वह जो भी कपड़ा पहनती हैं फबता है।

भूरा बेगम ने वफा को बताया की शेख साहब ने उनसे निकाह तो किया लेकिन कई साल बाद....और निकाह में तीन सौ रुपये बादशाही ताज़ा-ताज़ा टकसाल के ढले हुए सिक्के दिए। निकाह की घटना भी पढ़ने से ताल्लुक रखती है। बड़ा ही सुन्दर और आत्मीय माहौल था।

भूरा बेगम धीरे-धीरे मुसहफ़ी के मिजाज़ से वाकिफ़ हो गयी थीं। उनमें चार तत्त्व बदर्जा उत्तम थे। पहला स्वाभिमान और अपने को बहुत कुछ समझना, दूसरा काव्य शक्ति और काव्य की समझ-बूझ, तीसरा हुस्नपरस्ती, चौथा हास्य प्रधानता और हंसमुखपन। उर्दू में मीर तकी मीर, मिर्जा सौदा का और फ़ारसी में मिर्जा कतील के अलावा वह किसी को सम्मान नहीं देते थे। उन्हें विद्या और विद्वता के आदर का बहुत ख्याल था। उनका कहना था कि सृष्टि को समझने के लिए धर्म में आस्था



और बुद्धि दोनों ज़रूरी हैं। आखिरी दिनों में वो कुरान शरीफ ज़रूर पढ़ने लगे थे और कभी-कभी सुन्नी तरीके से इशा की नमाज़ भी पढ़ लेते थे। शेख साहब के विचारों को सुनकर भूरा बेगम डर जाती थीं.... सुनती हो दुनिया में इतनी बुराई, इतना अत्याचार इतना अन्याय है। इमानदारी और सत्यनिष्ठा तो कभी-कभी ही सामने आते हैं।

मुझे तो यकीन है कि अल्लाह मियां ने अपने सब काम शैतान को समर्पित कर दिए हैं-‘फितने लाखों ये उसी ने तो उठाए जिसके/कुन के कहने में हुए आलम-ए-इम्काँ तैयार।’

भूरा बेगम हैरान थीं, अजब तमाशे की बात थी कि एक तरफ तो वह ऐसी बातें करते कि शैतान सुने तो पनाह मांगे और दूसरी ओर इमानदारी, अमानतदारी, छोटों से प्रेम और उनके लिए अपना स्वार्थ छोड़ देना और बड़ों का आदर करने में बेजोड़ थे। वह पीठ पीछे कभी किसी की बुराई नहीं करते थे। उनका एक शेर उन पर सही उतरता है- हम मुसहफ़ी गनी हैं शेर-ओ-सुखन की दौलत/रूतबा हमारे आगे रखता है सीम-ओ-जर क्या।

यह शेर उन्होंने तब कहा था जब भूरा बेगम ने इच्छा व्यक्त की थी कि अगर हम धनवान होते तो अपनी भावी सन्तान के गले में सोने का तावीज डलवाते। बच्चा तो जाता रहा लेकिन शेर उनके लिए यादगार बन गया। कोई दबी जवान से उनके सामने कहता तो कभी तो खामोश रहते कभी कहते- ‘आफताब-ए-जर्मी हूँ मैं लेकिन/मुझसे रोशन हैं आसमान ए सुखन/है गज़ल मेरी गर चे सिहर-ए-हलाल।’

उनकी एक खूबी यह भी थी कि अपने से कम उम्र या कम हैसियत वाले को निम्न न समझते थे। नवसिखियों का दिल बढ़ाते थे, उनके कलेजे में छूरियां नहीं मारते थे। उनकी एक अदा यह भी थी कि उनकी तबियत में छल-कपट बिल्कुल न था। वह किसी से नाराज़ भी होते तो केवल अस्थायी रूप से। हाथ तंग होने के वक्त भी वह ज़रूरतमंदों के लिए सेहरा, रूखसती, मुबारकबादी गज़ल आदि मुफ़्त ही लिख दिया करते थे। किसी ने खुशी से कुछ दिया तो संकोच भी न था।

भूरा बेगम ने वफा को बताया कि उनकी दुनिया दो चीज़ों के इर्द-गिर्द घूमती थी शायरी और इश्क। माशूक के नूर को उनकी आँखें हमेशा तलाशती रहीं....एक बिजली की कौंध हमने देखी/और लोग कहे हैं वो बदन था

भूरा बेगम ने हुस्न की जादूगरी पर लिखे उनके डेरों शेर सुनाए....‘हर चंद कि था काबिले-ए-दीदन बदन उसका/पर आँख न ठहरी जो खुला पैराहन उसका।’

इस्मत नाम की किसी लड़की से भी उन्होंने इश्क किया

था। कहानी में मुसहफ़ी की अपनी जबानी भी अपनी दास्तान कलमबद्ध की गयी है। इस्मत जहाँ का भी ज़िक्र है जहाँ अमीरों और शौकीनों की महफिल जमती थी। दोस्तों ने कहा- गुलाम हमादानी बड़े बुरे घर में तुम्हारी गोठ अटकी। ये अमरोहा नहीं है। इस चौखट पर पहुँचना है तो सोने के बन कर जाओ, यह मिट्टी की टोकरी वहाँ नहीं चलेगी। शेख ने जब पहली बार इस्मत जहाँ को देखा तो बेहोश होते-होते बचे... उफ वह बदन इस कदर तैयार और कोमल कि फल से रस की तरह टपका पड़ता था, वो जुल्फें और लटें इस कदर खिलंदड़ी और मनमानी करने वाली थीं कि हाथ से उड़ी जाती थीं<sup>23</sup> हमादानी ने इस्मत जहाँ की महफिल का बड़े विस्तार से वर्णन किया है। वह मसनद पर आकर बड़े अंदाज के साथ बैठती थीं। सिर्फ अमीरजादों को ही उनके करीब जाने का मौका मिलता था। दास्तान लम्बी है उनके इश्क की। लेकिन यह इश्क एक तरफा था।

वफा कुरेद-कुरेद कर शेख साहब के जीवन और जीवन से जुड़ी घटनाओं के बारे में जानना चाहते थे। मिर्जा कतील और सैयद इंशा के साथ उनके सम्बन्धों पर भी प्रकाश डाला गया है। भूरा बेगम का कहना था सच्चा सेवक शिष्य हो तो कांजीमल सबा या टीका राम तसल्ली जैसा हो। वफा का जवाब था कि शेख साहब ने भी तो टीका राम की प्रशंसा में कसीदा लिखा था और पिता जी का हाल बहुत प्रेमपूर्वक लिख कर उन दोनों को हमेशा-हमेशा के लिए अमर कर दिया। फिरंगियों को उन्होंने हमेशा नपसंद किया।

इस लम्बी कहानी में चाय के बारे में भी एक बहुत ही दिलचस्प किस्सा है कि किस प्रकार कौवे की गिरायी पत्तियों से एक लड़की का नीचले धड़ का फालिज ठीक हो गया था और उसकी हकलाहट भी दूर हो गयी थी। वफा ने भूरा बेगम से एक सवाल किया तो आक्रोश से वह दहक उठीं... ‘जिन लोगों ने मुँह से ऐसे कलाम निकाले मौला करेगा तो उनकी कब्र में दोमुँही रस्सी ही डसेगी। बड़े आये कमबख्त कहने वाले कि उनका आखिरी वर्षों का कलाम सारा बिक गया।’<sup>24</sup> पहले लोग साँप को रस्सी कहते थे।

फ़ारसी दीवान भी उन्होंने दो लिखे। हिंदी का चौथा और पाँचवाँ दीवान भी उसी जमाने का है। फ़ारसी में गद्य की किताब ‘मजमउल फवाइद’ भी लिखी। भूरा बेगम की जवान अपने महबूब की बातें करते नहीं थकती थी। भूरा बेगम शेख साहब के धार्मिक विश्वासों से सहमत नहीं थीं। एक बार इस बात पर तकरार हो गई थी। भूरा बेगम से उन्होंने कहा था- ‘आपको न मेरी गज़ल फाड़ने का अधिकार था न मेरे धार्मिक विश्वासों पर दरोगा बन कर बैठने का। मैं इन्सान को सब

कुछ मानता हूँ और हमारे पैगम्बर मेरी जान उन पर कुर्बान हो, सब से अच्छे इंसान थे।<sup>25</sup>

इसमें हुमायूँ और शेरशाह सूरी की लड़ाइयों का वर्णन भी है। निजाम का किस्सा भी अद्भुत है। निजाम की बारह पीढ़ियाँ गुज़र चुकी थीं और शेख हमामदानी इस सिलसिले की अंतिम कड़ी थे न उनके कोई औलाद थी न उनके भाइयों के। इस खानदान के बाकी रहने का आधार शेख की शायरी ही थी। वह इसे अपनी औलाद मानते थे...उनके ही शब्दों में— मैं शेख गुलाम हमामदानी मुसहफी अमरोहवी जो बाद में देहलवी और फिर लखनवी हुआ अपने पूर्वजों के हाल पर आधारित यह लेखन अपनी किताब में लिखे जाता हूँ जिसका नाम मजमा उल फवाइद है ताकि अगले जमाने के लोग सबक हासिल करें और यह हालत में इसलिए भी लिख रहा हूँ कि लोगों को मालूम रहे कि मैं प्रसिद्ध पूर्वजों का वंशज हूँ। इस जमाने के भेड़-बकरियों जैसे लोगों की तरह जातिहीन नहीं हूँ।

वफा ने भूरा बेगम के द्वारा दी गयी इस किताब के आधार पर ही उनकी ज़िन्दगी के हालात कलमबद्ध किए। इस किताब में भूरा बेगम का ज़िक्र उनके नाम के साथ न था। सिर्फ इतना कहा गया था कि मुताह की हुई एक बीबी मेरे पास 12 साल से हैं। वफा के पूछने पर भूरा बेगम ने बताया कि किताब की शुरूआत 1228 हिजरी (1812 ई.) में हुई थी। 1814 ई. में उनका शेख साहब से निकाह हुआ और वह लगभग सत्ताइस साल उनके साथ रहीं। दुष्ट लोगों ने शेख के इंतकाल के बाद उन्हें घर से निकाला तो वह एक दो जोड़े और शेख साहब के कागज़ों वाला सन्दूक लेकर उस बेवा मेहरी के घर चली गई जो शेख साहब के आखिरी दिनों में उन्होंने रख ली थी। कप्तान बेगम ने अगले दिन शेख नासिख के द्वारा यह मकान 300 में दिला दिया। कीमत उन्होंने मेहर के रुपयों में से अदा की। कप्तान बेगम ने और भी बहुत कुछ दिया। मुहम्मद रज़ा को भी उन्होंने ही मेरे यहाँ काम पर लगाया।

वफा के पूछने पर उन्होंने बताया कि अंतिम दो-ढाई महीने में वह शब्द भूल गये थे। भूरा बेगम ने सिसकियाँ लेते हुए बताया कितनी जबर्दस्त त्रासदी है कि जो व्यक्ति बात-बात पर शेर कहता था अब वह शब्दों को भूल कर उस शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द बड़ी मुश्किल से बोल पाता था। वफा को यह सुन कर बेहद दुःख हुआ। यह कोई बीमारी थी या भूत प्रेत उन पर आ गया था। भूरा बेगम को इस बात का अपार दुःख था कि वह शब्द भूल गये थे। हालाँकि उन्हें एक महीने से तेज़ बुखार था लेकिन बातचीत में अच्छे-खासे थे, अचानक ही यह हो गया। जैसे तुम की जगह आप कहने लगे

मुझे... लेकिन आप के बजाए ताप या ताम कहते। भूरा उन्हें भूल गया था इसलिए लाल क्योंकि भूरे से करीब होता है यही कहते। पानी की जगह तेल शब्द का प्रयोग करते, जैसे धूप, सूख, नाली, तरख, तेल, तर, भरो, भरा, अगर खाना माँगना होता तो कहते चिड़िया, दाना, बोरी आदि।

लेखक ने मौसम के जुलम-ओ-सितम के बारे में भी बताया है कि उस साल मूसलाधार बरखा बहुत लम्बे समय तक हुई और फिर चिलचिलाती धूप ने कमजोर मकानों को ढा दिया और हैजा की महामारी का शिकार भूरा बेगम बेगम भी हो गई। वफा जब मिलने गये तो उन्हें होश न था। उलटी और पेशाब में लिथड़ी हुई थीं। वफा ने दो औरतों को, एक भिश्तन और दूसरी भंगन को, उनकी देख-भाल और साफ-सफाई के लिए रखा और पच्चीस रुपये रोज देने को कहा, यह रकम उनके लिए 12 महीने की कमाई के बराबर थी। हकीम साहब की दवा और साफ-सफाई से उनकी तबियत कुछ संभली। उन्होंने इशारे से शेख साहब के सन्दूक को ले जाने को कहा और मुहम्मद रज़ा को पास बुलाकर प्रार्थना भरी आँखों से देखा। वफा ने बड़ी मुश्किल से अपनी आवाज़ पर नियंत्रण रखा और उन्हें कहा कि आप चिंता न करें। रात को ही वह अल्लाह को प्यारी हो गयीं। वफा ने अपने दोस्तों को और शेख साहब के दोस्तों को खबर की। मीर मुस्तहसन खलीक और मुंशी मुजफ्फर अली साहब असीर के घर की औरतों ने भूरा बेगम को नहला कर कफन पहनाया और दरगाह हजरत अब्बास के करीब वाले कब्रिस्तान में हजरत की पांयती दफन किया और भूरा बेगम का मकान और सामान बेचकर कुछ रुपये अपने पास से डालकर मुहम्मद रज़ा को मिर्ज़ापुर जाने वाले एक काफिले के साथ रवाना कर दिया।

इन्सान चाहता कुछ है और मशीयते ईजादी (खुदा की मर्जी) कुछ और ही करती है वफा ने भूरा बेगम से अपनी बातचीत पर आधारित संस्मरण लिखे थे जिन्हें वह किताब का रूप देना चाहता था। साथ ही उन की ख्वाहिश थी कि दादा उस्ताद के बारे में शार्गिदों की सूची, उनके संक्षिप्त हालात, कुछ प्रसिद्ध शार्गिदों की शायरी पर किए उनके सुधारों के नमूने भी हों। अपने शेख साहब के निजी घरेलू जीवन के बारे में ब्यौरे देना वह नहीं चाहते थे। मजमउल फवायद में अंकित बातों को छानबीन करके वह और विस्तार से अपने संस्मरण में शामिल करना चाहते थे। ख्वाजा आतिश और असीर ने इस सिलसिले में उनकी मदद भी की। शेख नासिख का सुझाव था कि भूरा बेगम के भी कुछ हालात इसमें शामिल किए जाएँ। क्योंकि उस्ताद मुसहफी को बनाने में भूरा बेगम का भी काफी हिस्सा था। वफा खुद भी बेगम भूरा से गहरा लगाव

व आकर्षण महसूस करते थे। यह लगाव इस हद तक था कि 'फ़ारसी कहावत की तरह 'कहानी मजेदार थी मैंने उसे और लम्बी कर दिया' की तरह भूरा बेगम को असाधारण महत्त्व न दे बैठें। शेख साहब का आठवां उर्दू दीवान और सिर्फ कसीदों का एक दीवान सन्दूक में मिला था। उस जमाने के सुप्रसिद्ध खुशनवीस मुहम्मद इब्राहीम और उनके खास शिष्य मुंशी मंशा राम से इसे लिखवाना तय हुआ था।

लेकिन तकदीर का फैसला तो कुछ और ही था। भूरा बेगम के इंतकाल के 22 वें दिन वफा ने भी हैजा में गिरफ़्तार होकर अपनी आँखें मूँद लीं। उनके साथ उनके सारे ख़्वाब भी जल कर राख हो गए। दरबारीलाल वफा का एक तैल चित्र उनके चाचा के दीवानखाने में कई साल तक लटका रहा। 1858 की लूटमार में ये चित्र एक सिपाही के हाथ लगा। बिकता-बिकता यह एक चित्र लन्दन के सुप्रसिद्ध विक्टोरिया और अल्बर्ट संग्राहलय में पहुँच गया और आज भी वहीं देखा जा सकता है।

फ़ारुकी साहब ने चित्र की शैली को लेकर भी काफी छानबीन करके निष्कर्ष निकाले हैं। चित्र की सारी बारीकियों को कपड़े, स्टाइल, रंग आदि सभी को उजागर किया गया है। चित्रित किए गये पुरुष का रंग खुलता हुआ सांवल्ला है। दुबला लेकिन लम्बा डील, चेहरा दाढ़ी से वंचित और ठोड़ी मजबूत है। न घनी, छितरी, जरा छोड़ी मूँछें, सीधी नाक के नीचे स्पष्ट हैं। आँखें काली पलकें लम्बी और कुल मिलाकर चेहरा के भाव में सोच और गम्भीरता है। वफा की पुस्त पर ...किन्तु वो उसकी टेक लगाने की बजाए चौड़े कन्धों के साथ बैठा है। पीछे एक खिड़की खुलती है जिसमें से पिछवाड़े के बाग के कुछ पेड़ और बाग में खिलते हुए गुलाबों के पौधे दिखाई देते हैं। उसके पीछे दूर पृष्ठभूमि में अंगूर का टट्टर है जिस पर अंगूर के गुच्छे धुंधले दिखाई देते हैं। वफा के सामने लेकिन कुछ अलग बाईं ओर खत लिखने का चौकी रूपी कलमदान ठोस चाँदी का और उसके दाहिनी हाथ में शाही के काटे का कलम और बाएँ हाथ में एक किताब है जिसके मुख्य शीर्षक पर उस्तादुश्शोअरा शेख गुलाम हमादानी देहलवी और लखनवी साफ पढ़ा जा सकता है। तिजारती सामग्री या सौदागरी की तरफ संकेत देने वाली कोई वस्तु चित्र में नहीं। हाँ ! एक भारी-सी कुंजी वफा के दाएँ हाथ की ओर अवश्य रखी है। शायद इसी कुंजी के कारण ही संग्राहलय के सूची लेखकों को धोका हुआ हो कि यह चित्र किसी व्यापारी का है। वास्तविकता यह है ये कुंजी ज्ञान और गुण के खजाने की चाबी का प्रतीक है। फ़ारसी का एक शेर लेखक ने तहरीर किया है जिसका अर्थ है- हालाँकि मेरा रंग और महक प्यारे

हैं, लाले के फूल की तरह मेरा मुँह और सर्व के पेड़ के समान सीधा मेरा कद है परन्तु यह न मालूम हुआ कि मिट्टी के बने इस नाच रंग के घर में शाश्वत चित्तेरे ने मेरा चित्र बना कर क्यों रख दिया।

कथावाचक तीन हैं वफा, भूरा बेगम और शेख साहब, लेकिन कथा की न कड़ियाँ बिखरती हैं, न सिलवटें पड़ती हैं, न झोल आता है। गुनगुनाते, लहराते, बलखाते किसी आबशार की तरह वह पाठक को बहाए लिए चलती है। उस समय का यथार्थ और कलमकार का कलम दोनों हमआहंग हैं। कल्पना के बिखरे मोतियों ने आख्यान को एक नई आब-ओ-ताब दी है। लेखक के लेखन का कमाल यह है कि उन्होंने इतिहास के पन्नों की गर्द भी झाड़ी है और दर्शन, धर्म, भौतिक जीवन की वास्तविकताओं को भी नया अन्दाज और नयी फ़िक्र दी है। मैं निःसंकोच कह सकती हूँ कि यह लम्बी कहानी आफताब-ए-जर्मी है।

सिर्फ एक बात कहना अपना धर्म समझती हूँ कि उर्दू से हिंदी में अनुवाद करते हुए कहीं-कहीं सटीक व बमुहावरा शब्द नहीं आ पाए हैं। लेकिन कुल मिलाकर यह रचना रचनाकार की हमागीर शख्सियत का एक जीवंत दस्तावेज़ है। साथ ही एक काल खंड का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक यथार्थ इस रचना को मूल्यवान बनाती हैं।

#### सन्दर्भ-

1. सवार और दूसरी कहानियाँ, भूमिका से, पृ. 18
2. आफताब-ए-जर्मी, पृ. 207
3. वही, पृ. 211
4. वही
5. वही
6. वही, पृ. 212
7. वही
8. वही, पृ. 213
9. वही
10. वही, पृ. 215
11. वही
12. वही, पृ. 218
13. वही, पृ. 217
14. वही, पृ. 219
15. वही
16. वही
17. वही
18. वही, पृ. 223
19. वही, पृ. 228
20. वही, पृ. 231
21. वही
22. वही
23. वही, पृ. 249
24. वही, पृ. 266
25. वही, पृ. 271

B-1 GAUTAM APTS. SEVEN BUNGLOWS,  
ANDHERI-WEST, MUMBAI-53, Ph. 9833692732

## ‘लाहौर की एक घटना’ के मिस शम्सुरहमान फ़ारुकी के कहानीकार की परख

प्रेमकुमार

शम्सुरहमान फ़ारुकी जितने काम-नाम वाले अदीब का परिचय या यश किसी एक क्षेत्र या भाषा विशेष तक सीमित नहीं हुआ करता। अन्य अनुशासनों या भाषाओं के जो अध्येता-पाठक उनके लेखन से सीधे-सीधे परिचित नहीं होते, वे भी किसी न किसी तरह किसी न किसी स्तर पर ऐसे साहित्यकारों से वाकिफ़ अवश्य होते हैं। जहाँ तक मेरी बात है, फ़ारुकी साहब से मेरी मुलाकात तो कभी नहीं हुई पर उनके संपादक-समीक्षक को मैं यदा-कदा देखता-पढ़ता रहा हूँ। उनके व्यक्ति, स्वभाव, लेखन एवं साहित्य-जगत में उनके रौब-दाब, कद, असर और महत्त्व आदि के बारे में बहुत वर्षों से प्रायः बहुत कुछ सुनता रहा हूँ। बहुत पहले शुजा ख़ावर द्वारा निकाला और खूब चर्चित-विवादित रहा वह ‘तुरा’ भी पढ़ा था। अलग-अलग उम्र, भाषा और विचार वाले लोगों के साथ जब भी उनके बारे में कोई चर्चा हुई, हमेशा लगा कि फ़ारुकी साहब की किसी रचना, मान्यता या स्थापना पर भले ही उनके भिन्न-भिन्न मत रहे हों, किंतु उनके ‘बहुपठित’ होने पर कभी किसी ने कोई असहमति नहीं जताई। हिंदी में आए उनके कहानी-संग्रह ‘सवार और दूसरी कहानियाँ’ को देखा तथा उसमें संकलित कहानियों में से एक ‘लाहौर की एक घटना’ पर लिखने की बात आई तो एकदम से मैं चौंका। क्या फ़ारुकी साहब कहानीकार भी हैं? उर्दू कहानी के सिलसिले से हुई कथा-संगोष्ठियों में या फिर समीक्षात्मक आलेखों में उनके इस रूप का उल्लेख या मूल्यांकन मैंने इससे पहले कहीं नहीं देखा-सुना था। लगा कि यह शायद मेरे जानने की कमी या अनभिज्ञता का परिणाम है। अच्छा हो कि उर्दू के कुछ रचनाकार मित्रों से इस बाबत फ़ोन पर बात की जाए।

फ़ोन निकालने-मिलाने के बीच नहीं मालूम कैसे कहाँ से यह ख़्याल आ उपस्थित हुआ। जब कोई रचनाकार अपने पैर जमाने या राह तलाशने के दौर में नहीं, बल्कि अच्छी तरह से रम-जम चुकने के बाद अपनी किसी खास विधा से दूसरी विधा में दौड़-भाग या आवाजाही करता है, तो उसमें उसकी किन्हीं प्रकट-अप्रकट चाहतों-लालसाओं की कुछ तो जिद और मजबूरी होती ही होगी। यूँ ऐसा यह साहित्य के इतिहास

के प्रायः हर दौर में कम या अधिक होता ही रहा है, मगर नयी कहानी के काल में यह खूब हुआ और बाद में तो कहानी-कविता ही नहीं कई अन्य विधाओं में भी यह हुआ कि रचनाकारों ने सृजन के साथ-साथ अपनी विधा और समय की समीक्षा व मूल्यांकन का दायित्व भी खुद ही सँभालना उचित और जरूरी समझा। पिछले कुछ दशकों में हिंदी में तो खूब-खूब और उर्दू में भी अच्छी खासी मात्रा एवं दिशाओं में यह प्रवृत्ति बढ़ती-मजबूत होती दिख रही है। आलोचना की दुनिया के ज्यादातर जाने-माने नाम इरादतन दम साधकर आलोचना के अलावा संस्मरण, आत्मकथा, कहानी, कविता, नाटक जैसी विधाओं में कुछ न कुछ लिखकर स्वयं को और ज्यादा स्थापित तथा बहुत कुछ प्रमाणित कर-करा देना-लेना चाहते हैं।

तो क्या आलोचना का धंधा इन दिनों मंदी का शिकार हो रहा है? उसमें अब इज्जत और फ़ायदा नहीं दिख रहा है या फिर वह घोर घाटे का सौदा होता जा रहा है? या फिर इसकी वजह आलोचकों के मन में पैदा हुई कोई ग्रंथि है? आलोचना के सूरमाओं के रचनात्मक लेखन की ओर मुड़ते जाने के कितने ही लोग कितने ही कारण निकाल-बता सकते हैं। इस लिहाज से आज की पीढ़ी अपेक्षाकृत कहीं अधिक उत्सुक, सक्रिय और उतावली दिखती है। वह शायद इसलिए कि आज पढ़ने-लिखने का वो पहले वाला परिवेश-नशा-सब गायब है। कई-कई भाषाओं-विधाओं की रचनाओं से परिचय की बात तो बहुत दूर खुद के द्वारा लिखी जा रही विधा में भी अपने अलावा अपने कुछ दोस्तों व प्रशंसकों के नामों के अलावा शायद ही उन्हें किसी और का कोई अता-पता हो! समीक्षा के नाम पर जी-पा रहे हिंदी-उर्दू के अनेक शीर्ष रचनाकारों के लिए इरादतन अन्य विधाओं में जोर आजमाइश इसलिए और भी आसान और संभव हो जाती है कि प्रकाशन की समस्या से उन्हें दो-चार होना ही नहीं पड़ता। इनमें से जिसने भी जो लिख दिया उसे छपना तो है ही-सो छप गया। जिन-जिन पर उन्होंने कभी कुछ लिखा था उन-उनसे अपने छपे की समीक्षा लिखा ली गई। ऐसे नामवरों की किताबों पर कुछ भी कितना ही छापने को तैयार बैठे संपादकों की कमी

नहीं। सो अचानक बेमौसम घिर आए बादलों की तरह एक साथ ढेर-ढेर समीक्षाओं का उग-घिर आना कोई बड़ी बात नहीं। लेकिन यहाँ यह सवाल-ज़रूर पूछा जाना चाहिए कि आजकल तीन सौ की संख्या में छापी जाने वाली ऐसी किताबों को कितनों ने खरीदा, कितनों ने पढ़ा और कितनों ने माना कि इनके लिखने-छपने से साहित्य या उस विधा को जरा-बहुत भी कुछ नया मिला है? या फिर कुछ दिनों के बाद किसकी किस किताब की याद रखने जैसी कोई याद पाठक के मस्तिष्क में बैठी रह पाती है?

चौंकने और ऐसा यह सब सोचते जाने के क्रम में 'लाहौर की एक घटना' को पढ़ा। पढ़ने के बाद देर तक कई जगह-तरह ढूँढ़ा-विचारा लेकिन कहानी का अंतर्मन, उसका इच्छित या कहें कि उसका मूल सिरा पकड़ में नहीं आया। अजीब बेबस हिल-डुल-सी मनःस्थिति में अपनी अनभिज्ञता असामर्थ्य और जरा पहले के उस चौंकने के पीछे के सच को जानने के इरादे से मैंने उर्दू के तीन सुविख्यात साहित्यकारों को फ़ोन किया। इनमें से दो कथाकार हैं और एक कवि। पहले मैंने जिस उपन्यासकार को फ़ोन मिलाया, वो फ़ारुकी साहब की ही पीढ़ी के अत्यंत महत्त्वपूर्ण और समादृत रचनाकार हैं। मैंने ज्यों ही फ़ारुकी साहब के कहानीकार के बारे में जानने के इरादे से किया अपना सवाल पूरा किया, हमेशा वाले दृढ़, बेबाक अंदाज़ में सुनाई दिया- 'यूँ शुरू में उन्होंने मेरी तारीफ़ की है, मगर जो सच है, वो सच है। हाँ, तनकीद में उनका काम है। पढ़े-लिखे हैं, पर कहानीकार कहीं से नहीं हैं। कहानियाँ-किधर से भी दो कौड़ी की नहीं हैं।' लगा कि जैसे यह राय निर्विकार नहीं है। फ़ारुकी साहब की पीढ़ी से ज़रा आगे के समय के कवि महोदय को फ़ोन मिलाया। अध्यापक के अतिरिक्त साहित्य के नवीनतम से परिचय-संबंध बनाए रखने वाले सुविज्ञ पाठक के रूप में उनकी प्रसिद्धि है। मुझे इतमीनान से सुना और फिर बड़े अदब मिले नर्म लहज़े में कहा- 'अरे भई बिलाशक...बहुत बड़े अदीब हैं। संजीदा समीक्षक हैं। बहुत पढ़े-लिखे हैं। 'शबखून' जैसा बहतरीन रिसाला निकाला है बरसों-बरस। हाँ, ये तो है, सब लिखने की कोशिश की है। कविता-नहीं, कुछ नहीं। हाँ कहानियाँ पढ़ी हैं। नहीं, कुछ नहीं हैं कहानियाँ। मुझे पसंद नहीं आई। कुरतुलएन हैदर नहीं-भई, अपनी पीढ़ी के प्रोज़राइटर्स में कहीं नहीं।' इस प्रतिक्रिया पर यकीन न करने का कहीं कोई कारण नहीं था। तो क्या इतना बड़ा अदीब यूँ ही बिना सोचे-व्यर्थ-सी कोई बेमतलब कहानी लिख देगा? शक हुआ कि शायद उसकी भाषा, उसके प्रतीकों-बिंबों के न खुल-समझ पाने के कारण ऐसी ये धारणा बन रही हो। ज़रूरी नहीं कि हर रचना

तक हर पाठक पहुँच ही जाए या फिर हर पाठक हर रचना से एक ही तरह का अर्थ और असर ले। फ़ारुकी साहब के बाद की पीढ़ी के एक ख्यातनाम कथाकार का ध्यान आया। वे स्वयं एक अच्छे-सुस्थापित रचनाकार हैं इसलिए उनकी और दूसरों की समझ व सोच में अंतर तो होगा ही होगा। हो सकता है इस कहानी को ढंग से समझने-पकड़ने के लिए वहाँ से कोई इंगित या मदद मिले। मेरा सवाल सुनकर फ़ारुकी साहब के वेलरेड होने को तो उन्होंने भी स्वीकारा, पर बाद में उन्होंने उनके समीक्षक, सोच व इरादे आदि को लेकर देर तक काफ़ी कुछ कहा, कई सवाल खड़े किए- 'वेलरेड होने पर तो संदेह है ही नहीं। दो-दो भाषाओं के साहित्य के गहरे-निकट संपर्क में रहे हैं। पर आले अहमद 'सुरूर' की तरह से किसी रचना के मानी नहीं समझाते। उनकी समीक्षा में रचना के मर्म तक ले जा सकने वाली गहराई व समझ नहीं मिलती। आपको मालूम है जिन लोगों के लेखन को शुरू में उन्होंने बेकार बताया, उपेक्षा की, खारिज़ किया आज वो बहुत ऊँचाई पर हैं, हर जगह हैं। जिन अफ़सानानिगारों को तब उन्होंने चढ़ाया-बढ़िया बताया वे आज कहीं नहीं हैं। जी-जैसे कुरतुलएन हैदर, बिशन सिंह बेदी को उन्होंने कुछ माना ही नहीं तब। क्यों क्या, हो सकता है टेस्ट खराब हो, या फिर जान-बूझकर ऐसा किया हो, करते हों या कि वेल्यू जजमेंट में ही गड़बड़ी हो। प्रोग्रेसिव राइटर्स से खुद को अलग, खास और बड़ा सिद्ध करने के लिए वो सब किया हो शायद। कहानियों में कुछ ऐसा खास कहाँ-क्या है? आप देखिए उसमें जमाना गायब है। जमाने की कमज़ोरियों को झेलने की चाहत-कूवत नहीं है। अतीत में इसलिए भागते हैं कि जमाने से आँखें न मिलानी पड़ें। नहीं, वे क्रिएटिव नहीं हैं। आलोचना में भी इसीलिए ऐसी रचनात्मकता नहीं है। वैसे पढ़कर लगता है कि बड़ा भारी-भरकम-सा कुछ है, पर सवाल यह है कि आखिर में आपको वह पहुँचाती कहाँ है, या फिर आपके हाथ में आता क्या है? जी, हाँ, आया है उनका उपन्यास 'कई चाँद थे सर-ए-आसमाँ' हिंदी में भी। उसे भी क्या कहें-नाकामतरीन नाँवेल ही है?'

कहानी को जल्दी-जल्दी फिर पढ़ा। अन्य कहानियों पर दृष्टि डाली। कहानी-संग्रह के शुरू में दी गई भूमिकाओं पर नज़र गई। मन किया कि कहानी और कहानीकार को उसके लिखे के अंदर से उसी के माध्यम से देखा-परखा जाए। उर्दू और हिंदी संस्करण की भूमिकाओं को जल्दबाजी में पहली बार पढ़कर लगा कि जैसे इनसे मदद ली जा सकती है। बाद में फिर पढ़ा तो महसूस हुआ कि सचमुच लेखक द्वारा इस हिस्से में कहे गए अनेक वाक्यों-अंशों के सहारे अजीब-अबूझ-सी



लगती 'लाहौर की एक घटना' के अंतरंग के काफ़ी कुछ का उद्घाटन-परिबीक्षण किया जा सकता है। फ़ारुकी साहब के कहानीकार होने-बनने की स्थितियाँ, कहानी लिखने के पीछे की क्रियाशील प्रवृत्तियाँ, परिस्थितियाँ, कहानी संबंधी उनकी मान्यताओं-स्थापनाओं, अपेक्षाओं आदि के बारे में इन भूमिकाओं तथा इस कहानी की कुछ पंक्तियों के माध्यम से जाना जा सकता है।

यह जान लेना दिलचस्प और उपयोगी होगा कि अन्य अनेक आलोचकों-रचनाकारों की तरह फ़ारुकी साहब की साहित्यिक ज़िंदगी का पहला क़दम भी कविता के क्षेत्र में उठा था। उन्होंने अपनी हस्तलिखित पत्रिका 'गुलिस्तान' का पेट भरने की खातिर कहानियाँ लिखना आरंभ किया और अपना शौक पूरा करने के लिए आलोचना। (पृ. 12) यँ उनकी पहली कहानी 'शायद 1948-49 में तब छपी' जब वे हाईस्कूल के छात्र थे और ग्यारहवीं के जमाने में तो उन्होंने 'दलदल से बाहर' नाम से एक लघु उपन्यास भी लिख दिया था, लेकिन तब तक वे बहुत स्तरीय अंग्रेज़ी पढ़ चुके थे तथा जमात-ए-इस्लामी से भी उनका दिल फिरने लगा था इसलिए उपन्यास में अंकित या प्रत्यारोपित विचार उन्हें बचकाना और कच्चे लगने लगे थे। यह भी कि उन्हीं दिनों उन्होंने एक कहानी 'सुखँ आँधी' भी लिखी जो सोवियत रूस में धर्म और विश्वास के ऊपर अत्याचार के बारे में थी। (पृ. 14) पृष्ठ पंद्रह पर फ़ारुकी साहब ने बताया है कि कहानी लेखन की बढ़ती हुई रुचि ने उनकी शायरी छुड़ा दी, जबकि पृष्ठ सत्रह पर वे लिखते हैं कि बी. ए. के जमाने में हार्डी के नॉवेल्स के प्रभाव और जमात-ए-इस्लामी के उपदेशों-उसूलों से हुए विलगाव के चलते उनके पास तब कहानी लेखन छोड़ देने और केवल आलोचना को अपनाने के अतिरिक्त कोई रास्ता न था। (पृ. 17) एम. ए. की पढ़ाई के दिनों में फ़ारुकी साहब ने अपने जीवन के लिए जो लक्ष्य निश्चित किए थे उनमें अलीगढ़ या इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी का अध्यापक बनने के अलावा अंग्रेज़ी में कविता और उर्दू में आलोचना लिखना शामिल था, कहानी लिखने की इच्छा या इरादे का कहीं कोई जिक्र नहीं था। अंग्रेज़ी में कविता लिखी पर वहाँ से मन उचट गया इसलिए बाद में आलोचना लिखते रहे। शुरु में पाबंदी से कहानी लिखते रहने वाला यह शख्स 1952-53 के बाद बहुत दिनों तक कहानी क्यों न लिख सका इसका उत्तर उसके भी पास नहीं है। पर यह खासतौर से ध्यान दिए जाने की बात है कि उर्दू में आलोचना लिखना उसके लिए अपनी भाषा की सेवा करना था और कविता करना एक गहरी न बताई जा सकने वाली व्यक्तिगत मजबूरी। (पृ. 18) यह ज़रूर रहा कि

इस बीच कभी-कभी फ़ारुकी साहब के दिल में उपन्यास लिखने की हूक़ उठा करती थी, लेकिन उपन्यास तो बड़ी बात है, अब छोटी-मोटी कहानी की संभावना भी नीचे उतरती जा रही थी। (पृ. 18) आखिर उन्होंने कहानी या उपन्यास की ओर फिर से चलने का विचार दिल से निकाल दिया। पर संयोग कि 1997-98 में ग़ालिब पर 'शबखून' का अद्भुत अंक निकालने के इरादे के साथ यह ख़्याल आया कि ग़ालिब के बारे में कहानी और सच पर आधारित एक आख्यान लिखा जाये जिसमें कुछ ग़ालिब से संबंधित साहित्यिक बातें, कुछ उस जमाने की साहित्यिक संस्कृति और कुछ इतिहास-सब मिलकर एक हो जाए।

उर्दू संस्करण की भूमिका को पढ़ने के बाद ही पाठक इस सत्य से अवगत होता है कि फ़ारुकी साहब को नौजवानी में कहानी लिखने की प्रेरणा अंग्रेज़ उपन्यासकार विलियम मैकपीस थैकरी के ऐतिहासिक उपन्यास 'द हिस्ट्री ऑफ़ हेनर अजमंड' से मिली। इस उपन्यास ने उन्हें बहुत गहराई तक प्रभावित किया था। थैकरी के उपन्यास और उसकी बातें कहानी-संग्रह की सभी कहानियों के लिखे जाते समय मेहरबान दोस्तों की तरह लेखक की साथी और रखवाली करने वालों की तरह बनी रहीं। साहित्यिक संस्कृति और साहित्यिक इतिहास को कहानी में ढालने की संभावनाओं की राह पर चलने का साहस लेखक को जिन दो आधुनिक अंग्रेज़ी लेखकों से मिला उनमें एक हैं प्रसिद्ध महिला उपन्यासकार ए. एस. बायट और दूसरे हैं पीटर एकरायड। बायट के साहित्यिक संदर्भों और साहित्यिक घटनाओं की ओर संकेतों को अपने उपन्यासों में बेखटके और अधिकांश प्रयोग करने के अंदाज़ ने फ़ारुकी साहब को बहुत प्रभावित किया। उसे लेखिका की यह बात भी बहुत खींचती थी कि वो जब उसके दिल में आता है कला, चित्रकला, साहित्य के बारे में लंबे-लंबे वार्तालाप भी उपन्यास में डाल देती है फिर भी उपन्यास सफल मालूम होता है। एकरायड के उपन्यास 'चैटर्न' ने उसे सिखाया कि किसी उपन्यास में कोई बड़ा शहर किस प्रकार केंद्रीय महत्त्व का रहते हुए भी कल्पित किया जा सकता है। (पृ. 21) इतना यह सब जानकर पाठक फ़ारुकी साहब और कहानी के आपसी संबंध, उसकी गहराई, मजबूती, उसमें की ईमानदारी, अनन्यता, प्रभावात्मकता और कलात्मकता के बारे में काफ़ी कुछ जान-महसूस कर सकता है। इससे भी बड़ी और अधिक महत्त्व की बात यह कि इतनी इस जानकारी के साथ जब वो संग्रह की इन कहानियों को पढ़ेगा तो उसे उनके समझने, उनके प्रभाव या कहानीपन को विश्लेषित-मूल्यांकित करने में संभवतः अपेक्षाकृत कम दिक्कत और मुश्किल महसूस होगी।

जहाँ तक 'लाहौर की एक घटना' का सवाल है उसमें से कुछ निकाल पाने तथा उसके मर्म को पकड़ने-समझने की दृष्टि से उर्दू संस्करण की भूमिका का पृष्ठ इक्कीस के बाद का अंश तथा हिंदी संस्करण की भूमिका के कुछ वाक्यों की और भी अधिक सहयोगी-उपयोगी भूमिका हो सकती है।

शम्सुर्रहमान फ़ारुकी ने कहानी के साथ के अपने छात्र जीवन से शुरू हुए संबंधों में नौजवानी तक आए बदलाव अलगाव, उपेक्षा, उदासीनता या कि उस तरफ से खुद के नाउम्मीद हो जाने के बारे में जो-जो परस्पर विरोधी लगते-से कारण-हालात उर्दू संस्करण की भूमिका में गिनाए हैं, फिलहाल उन पर बात न करके उन कुछ संयोगों पर ध्यान दिया जाए जिनके चलते इस संग्रह की ये कहानियाँ जन्म ले सकीं और उर्दू-हिंदी में पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हो सकीं। जैसा कि उल्लेख है गालिब पर 'शबखून' के अंक निकाले जाने का संयोग न आ उपस्थित होता तो फ़ारुकी साहब का कहानीकार एक बार फिर न जागता और 'गालिब अफ़साना' जन्म न ले पाती। थेकरी के उपन्यास और उसकी बातें तथा एकरायड के उपन्यास 'चैटर्टन' की सीख मेहरबान दोस्तों और रखवाली करने वालों की तरह यदि लेखक के साथ न बनी रही होती तब भी संभवतः जाग जाने के बावजूद फ़ारुकी साहब का कहानीकार कदम-दो-कदम भी चल पाने की हिम्मत न करता। यह भी कि यदि अंग्रेज़ी उपन्यासकार ए. एस. बायट और पीटर एकरायड के लेखन से फ़ारुकी साहब परिचित या प्रभावित न हो पाते तो संग्रह की इन कहानियों का कथ्य-शिल्प, रंग-रूप-ढंग यह न होकर कुछ और होता। साहित्यिक संस्कृति और साहित्यिक इतिहास को कहानी में ढालने की संभावनाओं की राह पर चलने का साहस शायद-शायद क्या-निश्चय ही उनका तब नहीं ही होता। (पृ. 22) यानी संयोगों में भी एक नहीं कई तो-तो-तो—?

'लाहौर की एक घटना' के प्रवेशद्वार पर खड़े-खड़े जल्दी-जल्दी संग्रह की भूमिकाओं में के कुछ शब्दों और पंक्तियों की जरा-सी चर्चा और। किसी भी संजीदा पाठक के मन में इन कहानियों को पढ़कर तुरत-फुरत छोटे-छोटे कुछ सवाल भी आते ही आते हैं। जैसे एक यह कि जिस दौर में उर्दू कहानी कहीं से कहीं तक की यात्रा तय कर चुकी थी, तब उसका एक सुस्थापित-ख्यात समीक्षक रहस्य, रोमांच के साथ-सहारे अपराध कथा, जासूसी या सच्ची कहानियों की-सी चाल चलती कहानियाँ लिखना क्यों ज़रूरी समझ रहा था। अगर ज़रूरी था तो इन कहानियों के जनक-सृष्टा के रूप में अपना नाम देने में उसे हिचक, शर्म या भय जैसा अनुभव तब क्यों हुआ करता था। 'गालिब अफ़साना' के साथ न जाने

किन सच्ची-कल्पित मुश्किलों-उलझनों के भयवश उसने वेणीमाधव का नाम दिया-और यहाँ तो यहाँ कराची भी 'आज' के संपादक को भेजा नाम गोपनीय रखने के निवेदन के साथ। (पृ. 22) यह भी पता नहीं कि क्या सोचकर 'लाहौर की एक घटना' के साथ भी उसने अपना नाम न देकर बामुश्किल, बामशक्कत तलाशा-गढ़ा एक नाम दिया-'उमर शेख मिर्जा।' इस नाम के औचित्य और सौंदर्य पर कहानीकार ने जो कहा है, उसके आधार पर भी उसके मन, सोच, संस्कार, काव्य-प्रेम और कहानी संबंधी मान्यता के बारे में काफ़ी कुछ संकेतित-संप्रेषित हो जाता है-'इसमें इतिहास रहस्य और रोमांच की गूँज थी, दूरी का लुत्फ़ था, नाम के सुंदर स्वर उमर शेख तक उसकी उठान, फिर मिर्जा के तरल व्यंजनों द्वारा उतार स्वयं कविता की पंक्ति का रंग रखता था और उर्दू पिंगल शास्त्र के हिसाब से गणों पर भी पूरा उतरता था और फिर इसमें मेरे सबसे पहले पूर्वज हजरत उमर फ़ारुक के नाम की झलक भी थी। (पृ. 22) यह अभिव्यक्ति इस ओर भी इंगित करती है कि व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियाँ या जीवन के शुरू में पड़-पनप चुके संस्कार ढाँक-छिपाकर भले ही कहीं रख-रखा दिए जाएँ, पर वे खत्म नहीं होते, शांत नहीं रह पाते। अवसर पाकर किसी न किसी रूप में जीवन के बीच-बीच में उचक-झोंककर अपनी उपस्थिति दर्ज करा ही जाते हैं। मसलन इन पंक्तियों से भी प्रकट है कि कहानी फ़ारुकी साहब का 'शौक' 'लक्ष्य' या 'मजबूरी' अभी भी नहीं थी और जीवन के प्रारंभिक हिस्से के धार्मिक संस्कारों की छाप भी अभी मंद नहीं पड़ी है। तभी वह नाम के तय करने तक में कविता, पिंगल शास्त्र और अपने पूर्वज इस्लाम के दूसरे खलीफ़ा की झलक देखकर रीझे-सम्मोहित हुए जा रहा है। ऐसा नहीं है कि अपनी रचनाओं को अन्य भाषाओं या विधाओं के लोग पहले या आज भी छद्म नामों से प्रकाशित नहीं कराते रहे हैं। यह हुआ है, होता है, होता भी रहेगा, पर प्रायः तब जब स्वयं लेखक को रचना अस्तरीय, अश्लील या सस्ती-हल्की लगती है या अपने नाम और कद के अनुकूल-समरूप नहीं लगती या फिर तब जबकि सत्ता के घोर क्रूर हो जाने वाले दिनों में उसे सत्ता विरोधी लेखन करना होता है या कि उसकी रचनाएँ इतनी ताकतवर व उग्र-आक्रामक होती हैं कि सत्ता उनसे खतरा खाने लगती है। अपना नाम अपनी रचना के साथ देने से ऐसा यह हिचकना-बचना बिल्कुल वैसा लगता है जैसे कि कोई व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से अस्वीकार्य अथवा अवैध संतान के साथ अपना नाम जोड़ने से डर-भाग रहा हो। रहस्य, रोमांच, कविता, लुत्फ़ या कला आदि शब्दों के प्रयोग के संकेतों-मंतव्यों की बात अगर विस्तार में जाकर न भी की जाए



तो संग्रह के हिंदी संस्करण की भूमिका में कहे गए कुछ वाक्य फ़ारुकी साहब जैसे समीक्षक के कहानी संबंधी उद्देश्यों-मानदंडों को जानने के लिहाज़ से दृष्टव्य और विचारणीय हैं-‘जाहिर है कि मुझे भी तमन्ना थी कि हिंदी के माध्यम से ये कहानियाँ और दूर तक फैलें और हिंदू-मुस्लिम सभ्यता के जो बिंब इन कहानियों में दर्शाए गए हैं, उनसे भारत की जनता भी आनंदित हो और कुछ सबक भी सीखे।’ (पृ. 27) उर्दू में लिखने वाले किसी भी रचनाकार की तमन्ना यह होती ही होती है और होगी भी होगी कि वह हिंदी के पाठकों के विशाल-व्यापक क्षेत्र तक पहुँच पाए। यह भी कि अपने लेखन के बारे में वह और चाहे जो कहे या न कहे पर किसी न किसी तरह यह अवश्य बता देना चाहता है कि उसकी रचना का इस भाषा से उस भाषा में आना हिंदू-मुस्लिम सभ्यता और एकता की दिशा में अत्यंत फलदायी होगा। इसके अलावा इन वाक्यों में जो अलग से देखे-विचारे जाने योग्य हिस्सा है, वो वह है जब लेखक उम्मीद करता है कि उसकी कहानियों में दर्शित सभ्यता के बिंबों से आम जनता आनंदित भी हो और सबक भी सीखे। यानी कि कहानी का उद्देश्य आनंद-मनोरंजन और सीख-उपदेश।

ज्ञातव्य है कि ‘सवार और दूसरी कहानियाँ’ शीर्षक से हिंदी में आए फ़ारुकी साहब के इस कहानी संग्रह में ‘ग़ालिब अफ़साना’, ‘सवार’, इन सोहबतों में आखिर’, ‘आफ़ताब-ए-ज़मी’ और ‘लाहौर की एक घटना’ शीर्षक से कुल पाँच कहानियाँ संग्रहित हैं। संग्रह की भूमिका में लेखक ने अपनी अन्य कहानियों के लिखने-छपने से जुड़े अनुभवों-प्रभावों को पाठकों के साथ बाँटा-साँझा किया है, लेकिन ‘लाहौर की एक घटना’ के बारे में उसने जो जितना भूमिका एवं कहानी में कहा-कहलवाया है, उसका अपना अलग महत्त्व और अर्थ है। उन अभिव्यक्तियों को निश्चित एक क्रम में एक साथ एक जगह पढ़ने-देखने के बाद पाठक के लिए ‘लाहौर की एक घटना’ के अन्तस तक की यात्रा अपेक्षाकृत सहज, सुगम और अर्थपूर्ण लगने लगती है। भूमिका बिना पढ़े पाठक यह जान ही नहीं पाएगा कि ‘ग़ालिब अफ़साना’ की तरह इस कहानी के लिखे जाने के पीछे भी बड़ा विचित्र-सा एक संयोग ही है। ‘ग़ालिब अफ़साना’ के लिखे जाने के बाद के दिनों में लेखक ने एक स्वप्न देखा। असाधारण बात यह कि उसे वह पूरे विस्तार के साथ याद भी रहा। यकायक लेखक के मन में उस स्वप्न को कहानी बना देने का विचार आया। अन्य स्वप्नों की तरह लेखक द्वारा देखे गए स्वप्न का अंत भी अधूरा और बेतुका था। सो उसने अपनी कहानी के लिए एक ढंग के अंत की कल्पना की। उस कल्पना की मेहरबानी से ही इस कहानी

के अंत में लेखक की अपनी कहानी कला से संबंधित कुछ बातें आ गईं। इस तरह ‘लाहौर का एक वाक्या’ नामक कहानी का जन्म हुआ। उसके जन्म के अतिरिक्त लेखक ने यह भी बताया है कि पीली गंदी कमीज वाले पुरुष के घर में घुस आने और पिस्तौल दिखाने तक की तमाम घटनाएँ बिल्कुल वही हैं जो उसने स्वप्न में देखी थीं। बाद की बाकी सारा का सारा लेखक की अपनी कल्पना का हासिल है। (पृ. 22) लेखक का कहना है कि इसे लिखकर उसने असीम संतोष की अनुभूति की। लेखक ने कहानी संबंधी इस सत्य को छिपाया नहीं है और न ही अनावश्यक रूप-तरीके से इसके विरोध में तथ्य-तर्क गढ़े-ढूँढ़े हैं कि तात्कालिक प्रतिक्रियाओं के स्तर पर उसकी यह कहानी साहित्य के इतिहास और संस्कृति की गूँज के मद्धिम रह जाने के कारण ‘ग़ालिब अफ़साना’ जितनी सफल नहीं रही। सब कुछ के बावजूद वह अपनी कहानियों के आशाओं से अधिक लोकप्रिय होने पर गद्गद है। कहानियों में अंकित घटनाओं, इनकी भाषा, फारसी साहित्य से इनके तालमेल उनमें दर्ज़ सांस्कृतिक और ऐतिहासिक जानकारियों तथा उनके पात्रादि को सूक्ष्मदर्शी आँख से देखे जाने से भी वह पर्याप्त संतुष्ट है।

दिलचस्प और मानीखेज़ है यह देखना कि लेखक की इस संतुष्टि और गद्गद भाव का समर्थन या पुष्टि कहानी में इरादतन सौद्देश्य दिए-प्रयुक्त हुए कई वाक्य नहीं करते। भूमिका के अनुभवों और अहसास के ठीक विपरीत कहानी में उस हिस्से में भी जिसे सच या ठीक स्वप्न की तरह का कहा गया है और कथित कल्पित भाग में भी-वर्णित घटना और उसकी अभिव्यक्ति के औचित्य, विश्वसनीयता और शिल्प पर नितान्त विपरीत- विरोधी प्रतिक्रिया जताते कुछ वाक्य दिए गए हैं। ज़ाहिर है यह यँ ही अनजाने में बेमतलब तो नहीं ही है और यह भी कि इनके होने-कहने को अनदेखा-नज़रअंदाज़ भी नहीं किया जाना चाहिए। मसलन-कहानी के प्रारंभ में लेखक ने जिस घटना का ज़िक्र किया है, उसके बारे में उसकी स्वयं की राय है कि ऐसा तो सनसनीखेज़ कहानियों में भी नहीं होता-‘ये घटना है या कोई पागलपन जिससे मैं टकरा गया हूँ।’ उसका खुद का मानना है कि ‘अगर ऐसी घटना कोई मुझसे बयान करता तो मैं उसे किसी पागल की बकवास से ज्यादा महत्त्व न देता।’ (पृ. 303) कहानी के अंत वाले कथित कल्पित हिस्से में लेखक के लिखे के बारे में व्यक्त उसके दोस्त की राय भी इस दृष्टि से दृष्टव्य है-‘दोस्त ने बड़ी बेबाकी से लेखक के लिखे को स्वप्न में देखी हुई और दिलगढ़ी हुई घटनाओं का बयान तो कहा ही है, बकवास और फिज़ूल भी बताया है। (पृ. 307) लिखने के प्रवाह और धुन

में कुछ स्थानों, संदर्भों के गलत उल्लेख के प्रति दोस्त की आपत्ति और नाराज़गी तथा इस लिखे को दोनों के द्वारा आत्मकथा कहे जाने को भी कहानी के रूप, मूल्य और साफल्य का मूल्यांकन करते समय नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता।

जैसा कि लेखक भूमिका में स्पष्ट कर चुका है कि उसकी कहानियाँ साहित्यिक संस्कृति और साहित्यिक इतिहास को कहानी में ढालने की संभावनाओं की राह पर चलने का साहस प्राप्त कर चुकने के बाद की प्राप्ति और परिणतियाँ हैं। इतिहास के प्रति अपने अतिरिक्त लगाव और अधिकार के चलते अतीत का दामन थामकर उसने 'ढालने' की इस संभावना की दिशा में प्रयोग और प्रयास किए। ऐसे ही खास अंदाज़ में किए गए उसके एक प्रयोग और प्रयास का परिणाम यह कहानी है-'लाहौर की एक घटना।' ठीक है कि कहानी के अंत में उसने सच और कल्पना के बीच के अंतर के कारण आ मिले दोषों को अनदेखा किए जाने के इरादे से इसे खुद भी और दोस्त की जुबानी भी आत्मकथ्य या आत्मकथा का अंश भी कहा-कहलवाया है, लेकिन यहाँ या अन्यत्र भी यह कहानी कह-बताकर ही प्रस्तुत की गई है। यँ भी लेखक की किसी भी रचना में उसके आत्म की उपस्थिति-या न्यूनाधिक प्रत्यक्षतः या परोक्षतः उसकी अपनी कथा तो शामिल-समाहित होती ही है। इस सबके बावजूद कहानी और आत्मकथा एक नहीं होतीं, नहीं हो सकतीं। दोनों विधाओं का अपना अलग-अलग रूप, स्थान और वैशिष्ट्य है। 'लाहौर की एक घटना' लेखक की आत्मकथा का अंश है या नहीं यह लेखक जाने, कहानी के मूल्यांकन में इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। पाठक के सामने यह कहानी होकर ही पेश हुई है और उसने कहानी मानकर ही इसे पढ़ा-देखा है अतः इसका अध्ययन-विश्लेषण भी वह कहानी की तरह ही करेगा।

'सवार और दूसरी कहानियाँ' शीर्षक यह संग्रह पहली बार हिंदुस्तान में नहीं, पाकिस्तान में-कराची में छपा। 2001 में छपा। हिंदुस्तान में इसका पहला अकेला संस्करण 2003 में छपा। हिंदी संस्करण की भूमिका में फ़ारुकी साहब के इस कहने का भी अपना महत्त्व और उद्देश्य है कि उर्दू में पहले कराची और फिर उसके दो साल बाद हिंदुस्तान में छपा यह संग्रह हिंदी के साहित्यिक हलकों से आने वाली माँगों और प्रकाशक के बार-बार के आग्रह के बाद पहली बार 2013 में हिंदी में आया। यानी यहाँ अगर यँ देखें कि कब की लिखी कहानियाँ कहाँ-कहाँ से पहली बार किन-किन वर्षों में स्वतंत्र या संग्रह के रूप में छपीं और फिर कितने लोगों तक वो पहुँची और उनमें से किस-किस ने अपनी श्रेष्ठता और कहानीकार

के बड़े होने का अहसास कराया अथवा अपने प्रभाव-प्रताप के चलते कितनों की स्मृति में वह कितनी अवधि तक स्वयं को उपस्थिति-सुरक्षित रख पाई? भिन्न-भिन्न लोगों के निष्कर्ष इस बारे में अलग-अलग होकर भी लगभग समान ही होंगे।

उर्दू संस्करण की भूमिका में जिस तरह कहानीकार के जाग उठने और कहानियों के फिर से लिखे जाने की बात करते समय फ़ारुकी साहब ने संयोगों की बात कई बार की है, उसी तरह हिंदी संस्करण की भूमिका के शुरू में ही दो संयोगों का ज़िक्र प्रमुखता के साथ किया है। पहले संयोग का संबंध हिंदी में आए उनके उपन्यास 'कई चाँद थे सर-ए-आसमाँ' को हिंदी रूप देने वाले श्री नरेश नदीम के मिलने और उनकी प्रशंसा से है, जबकि दूसरा संयोग इस कहानी-संग्रह के अनुवादक श्री क्रांति शुक्ल के श्रम, सामर्थ्य, कौशल और सहयोगी-भाव की तारीफ से है। क्रांति शुक्ल के अनुवादक के लिए लगभग प्रमाण पत्र-सा जारी करते हुए फ़ारुकी साहब लिखते हैं-'मैंने इसे ठीक से देख लिया है और मैं समझता हूँ कि उर्दू की रूह और संभव हद तक उसके शब्द भी इस अनुवाद में आ गए हैं।' इस वाक्य से जरा पहले लेखक ने इस बात को बता देना बहुत ज़रूरी समझा है कि अनुवादक जो जैसा कर पाया है उसमें उनसे पूछ-पूछकर किए जाने का खास महत्त्व है। अनुवादक और अनुवाद की बात अपनी जगह उस पर कुछ कहना मेरा अभीष्ट नहीं है, पर इस 'पूछ-पूछकर' को पढ़ने के साथ ही कहानी पढ़ना शुरू करते ही सबसे पहले शीर्षक पर निगाह थमी। शीर्षक में वाक्या की जगह घटना दिखा। संग्रह की अन्य चार कहानियों के नामों में ऐसा कोई परिवर्तन नहीं है-फिर इसी बेचारी के साथ ऐसा क्यों? यँ ही देखने के इरादे से कुछ पृष्ठ उलटे-पलटे और कहानियों की नहीं, यहाँ केवल 'लाहौर की एक घटना' की ही बात करें तो कई जगह मन हुआ कि फ़ारुकी साहब से जाना-पूछा जाए कि उन्होंने पूछने पर अनुवादक को वैसा-वैसा ही कुछ करने की इज़ाज़त क्यों दी? कहानी के उर्दू मूल में ऐसे वे कौन से शब्द थे जिनकी 'रूह' हिंदी के इन्हीं शब्दों के द्वारा आ सकती थी। उर्दू में फ़ारुकी साहब ने वो कौन-कौन से शब्द प्रयुक्त किए थे जिनके स्थान पर अनुवादक को कहीं भगवान, कहीं खुदा, कहीं ईश्वर जैसे शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है? कहीं-कहीं एक ही वाक्य या परिच्छेद में खुदा के अर्थ में हिंदी के भिन्न-भिन्न शब्द प्रयुक्त हुए हैं। (पृ. 297, 298, 302, 303, 304, 306) ऐसा क्यों है कि कहानी में आए अंग्रेज़ी के शब्दों-जिन्हें रोमन लिपि में ही दिया गया है-के हिंदी उच्चारण कहीं दिए गए हैं, कहीं नहीं? (पृ. 298, 299, 300) यह भी जानने का मन होता है कि क्या पृ. 20, 22

पर प्रयुक्त शब्द 'अविष्कार' सही अर्थ और संदर्भ की अभिव्यक्ति कर पा रहा है? यदि हाँ, तो उर्दू के किस शब्द के अनुवाद के रूप में इस शब्द के प्रयोग की इजाज़त फ़ारुकी साहब से अनुवादक को प्राप्त हुई। ऐसा क्यों और क्या था कि अनुवाद में चूँटी की जगह चींटी शब्द का प्रयोग उचित नहीं माना गया? (पृ. 297, 299) और हाँ, जिन दो जगहों पर करुण रस की जगह करुणा रस (पृ. 300) प्रयुक्त हुआ है, क्या वह भी फ़ारुकी साहब की अनुमति से ही हुआ है? वैसे ये चूकें इतनी खास या बड़ी नहीं भी लगतीं, पर चूँकि इनके साथ फ़ारुकी साहब जैसे बड़े अदीब का नाम भी जुड़ गया है इसलिए इनका असर और आकार अपने आप बढ़ जाता है।

'लाहौर की एक घटना' संग्रह में संकलित अन्य चार कहानियों से कई मायनों में भिन्न है। कहानी में घटना का होना ज़रूरी मानने वाले कहानीकार फ़ारुकी साहब के घटनाओं के चयन, संयोजन, उनकी प्रस्तुति, काल, कथानायक या पात्रादि की दृष्टि से तो यह कहानी अन्य कहानियों से भिन्न है ही, इतिहास व संस्कृति पर कहानीकार की निर्भरता भी इसमें अन्य रचनाओं की तरह नहीं है। अन्य कहानियों से यह कहानी इसलिए भी भिन्न है कि यह अठारवीं सदी की घटनाओं पर आधारित न होकर सन् 1937 के किसी एक दिन की घटना पर टिकी-खड़ी है। इसके केंद्र में अन्य रचनाओं की भाँति अनिवार्यतः दिल्ली या उसकी मानसिक संतान या उसके वारिस के बतौर धीरे-धीरे स्थापित होता शहर लखनऊ नहीं है, बल्कि इस कहानी में घटी घटना आज के पाकिस्तान के शहर लाहौर की है। एक प्रमुख अंतर यह भी कि कहानी के केंद्रीय पात्र के व्यक्ति, लेखन, परिवेश आदि के अंकन को यहाँ अन्य कहानियों की तरह स्थान और लेखक की रुचि व कोशिश नहीं मिली हैं। यहाँ जिस अदबी शख्सियत-इक़बाल का उल्लेख हुआ है, उसका सिर्फ़ ज़िक्र ही हुआ है। उसके संबंध में प्रारंभ में जो दो-एक सूचनाएँ दी भी गई हैं, वे भी सही नहीं हैं। इसे जो चाहे कहा-माना जाए पर सूचनाओं के गलत होने की तरफ़ लेखक को कहानी के अंत में पाठक का ध्यान खींचना पड़ा है और उसे सच बताकर अपने उस प्रयोग में परिवर्तन तो करना ही पड़ा है। इस कहानी में किसी काल-विशेष के इतिहास या संस्कृति को दिखाना लेखक का अभीष्ट नहीं रहा, बल्कि विचित्र-सी एक घटना को स्वप्न बताकर और कहानी बनाकर पेश कर सकना भर उसका उद्देश्य रहा है। साहित्यिक व्यक्तियों, कृतियों, पंक्तियों का प्रयोग यहाँ भी है, पर अन्य कहानियों से भिन्न रूप और संदर्भ में। पढ़ते समय पाठक की दिलचस्पी बनाए रखने के बावजूद यह कहानी हुई-हुई-सी नहीं, इरादतन गढ़ी-गढ़ी-सी लगती है।

कहानी के कहने में कई युक्तियों-तरीकों का उपयोग लेखक ने किया है। छोटी-छोटी-सी कुछ घटनाओं, उनके कारणों की नन्हीं-नन्हीं चलती-फिरती-सी तलाशों, अतीत और वर्तमान से जुड़ी कई तरह की स्मृतियों, कुछ विवरणों, कुछ बिंबों, दो-चार विचारों, कुछ साहित्यिक व साहित्येतर सूचनाओं, जानकारियों का सधी-समर्थ भाषा के दम पर चेतना प्रवाह शैली में फैंटेसी-स्वैर कल्पना के रूप में फ़ारुकी साहब ने काफ़ी पहले जो अभिव्यक्ति की थी, उसी को उन्होंने नाम दिया था-'लाहौर का एक वाक्या', लेकिन बाद में हिंदी में आने पर किंचित परिवर्तन के साथ उसका नाम हो गया-'लाहौर की एक घटना।' स्वप्न देखा था कभी बहुत पहले, लेकिन उसको लेकर कहानी बनी काफ़ी बाद में। समय के इस अंतराल का जिक्र कर लेखक ने खास क्रम, प्रवाह और प्रयोग के चलते कहानी की रचना-बुनावट और विश्वसनीयता में आती गई लहक-बहक को अपने अनुभव और कौशल से कुछ शब्दों, वाक्यों, तर्कों, तथ्यों के आधार पर लघुत्तम-सा करके रोचक-सुगढ़ बना दिया है। क्रमशः पृष्ठ 298 और 306 पर की पंक्तियाँ-'अब कई साल बाद जब मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ, तथा 'किंतु कारों की चोरी उस जमाने में बिल्कुल न होती थी', या फिर कहानी के बीच-बीच में आए कुछ संवाद, संदर्भ या फिर साहित्य, समाज व मनोविज्ञान से संबंधित जानकारियों वाले अंश इस लिहाज़ से देखे जा सकते हैं।

जब कोई रचना-विशेषतः कविता, विरोधाभासी-सी शब्दावली, स्थितियों, चित्रों, विवरणों आदि को अपने में सँजोये-समेटे पाठक-श्रोता के सम्मुख व्यक्त-उपस्थित होती है तो निःसंदेह वे सारी विरोधी-सी लगती विपरीतताएँ अलंकार बनकर रचना के अर्थ, सौंदर्य, प्रभाव, महत्त्व आदि में गुणात्मक स्तर पर बड़ा परिवर्तन ला देती हैं। सब कुछ के घटित के बीच जब हम इस कहानी के मुख्य पात्र को आते-जाते, सोचते-विचारते, डरते-भागते-जूझते देखते हैं तो ऐसे ही विरोधाभासी-से दिखते कुछ विवरण, बिंब, वर्णन हमारा ध्यान खींचते हैं। कहानी के सूत्रों के पारस्परिक सामीप्य और संबंधों में तनाव-खिंचाव और इसीलिए एक आकर्षण या दिलचस्पी बनाए रखने में ऐसे इन विरोधाभासों की अच्छी-खासी भूमिका रही है। यह कहानी जहाँ लेखक के अपने सच और उसकी कल्पना में या फिर चमत्कार एवं साधारण-से औसतपन में पाठक की लगातार और समांतर आवाजाही कराती चलती है, वहीं इसके मुख्य पात्र का बाहोशी-बेहोशी, जागृति-सुषुप्ति, अँधेरे-उजाले में से होकर बार-बार विचरना-गुज़रना पाठक को रोमांचित-आह्लादित भी करता चलता है। दिमाग से खूब सोच-समझकर लिखी इस कहानी में लेखक द्वारा 'दिल' शब्द

और उसके साथ जोड़कर प्रयोग में लाए गए कारक चिह्न और क्रियाएँ पाठक को अलग से रुककर कुछ सोचने-समझने को आमंत्रित करती हैं। दिल में कहा, दिल से सोचा, दिल से कहा, दिल में सोचा, दिल को समझाकर (क्रमशः पृ. 296, 299, 304, 305, 306) जैसे प्रयोग फ़ारुकी साहब जैसे रचनाकार की कलम यूँ ही अनसोचे-अकारण तो नहीं ही करेगी। ऐसा करके कहानीकार ने दिल से अन्य इन्द्रियों का काम लिया है, जो स्वप्न पर आधारित इस कहानी में असहज, असंभव, असंगत न लगकर सहज-स्वाभाविक-सा रोचक लगता है।

ज़रूरी नहीं कि दूसरों के साथ भी ऐसा कुछ हुआ हो या हो, पर कहानी के शुरू से ही शुरू हुए अल्लामा इक़बाल की कोठी के बाहर के फुटपाथ पर की गुमटियों पर नौजवानों-बेफ़िक्रों के लगे जमघट और उनकी बाद की भावमुद्राओं, हरकतों, करतूतों आदि के बारे में पढ़कर बार-बार लगा कि जैसे हवाई जहाज में बैठा मैं डरा-घबराया-सा लाहौर के साथ-साथ इंग्लैंड व अमेरिका के लास वेगास अथवा धन-वैभव के लिए मशहूर शहरों के बाहरी इलाके की किसी अपराधी बस्ती के दैनिक जीवन को देख रहा हूँ-या फिर अपने ही हिंदुस्तान के बहुत पिछड़े-उपेक्षित हिस्से में ग़रीब, फटेहाल, बेरोजगार, दलित युवाओं के किसी झुण्ड को देख रहा हूँ। पलभर के लिए ही सही पर ऐसे इन क्षणों में एक ख्याल यह भी आया कि अक्सर लोगों ने लाहौर संबंधी अपनी किन्हीं मधुर या फिर बहुत यातनादायी स्मृतियों को अपनी रचनाओं में उतारा है। लेकिन इस कहानी में स्वप्न भी आया है तो कैसे लोगों के समूह और स्मृतियों से उसका संबंध दिखाया है लेखक ने...?

‘लाहौर की एक घटना’ के लेखक ने कहानी संबंधी अपने विचारों-मान्यताओं से संग्रह की भूमिकाओं के अतिरिक्त कहानी के अंत में भी सोच-समझकर एवं सप्रयास विस्तार से पाठक को परिचित-अवगत कराया है। उस सबसे अनभिज्ञ-अपरिचित पाठकों को कहानी व कहानीकार को अच्छे ढंग से जानने-देखने के लिए यह अच्छा ही होगा कि लेखक की निगाह और पैमाने से भी इस कहानी को देख लिया जाए। कहानी के अंतिम हिस्से में की कुछ बातों में से, संग्रह की भूमिका में जिन्हें लेखक की कहानी-कला एवं सैद्धांतिक पक्ष से संबंधित बताया गया है, फ़ारुकी साहब के कहानीकार की रचना-प्रक्रिया का सूत्र प्राप्त किया जा सकता है। फ़ारुकी साहब की यह कहानी = स्वप्न में देखी हुई + दिल से गढ़ी हुई कुछ घटनाएँ + नया पढ़ा-जाना गया खास अलग-सा कुछ! लेखक के कहे को यदि पूरी तरह सच माना जाए तो पीली

गंदी कमीज वाले पुरुष के घर में घुस आने और पिस्तौल दिखाने तक की तमाम घटनाएँ बिल्कुल वही हैं जो स्वप्न में लेखक ने देखी थीं। इसके बाद के सारे कुछ को लेखक ने स्वयं का ‘अविष्कार’ कहा है यानी कि वह सब उसकी ‘दिलगढ़ी’ है। देखे गए स्वप्न को और उसके चित्रों-प्रतीकों को समझने-विश्लेषित करने का ख्याल आते ही मनोचिकित्सक फ़्रायड और उनके स्वप्न सिद्धांत का स्मरण हो आता है। वैसे भी कहानी का बहुत कुछ दारोमदार लेखक के मस्तिष्क के संबंध में जाने-पढ़े और उसे कहानी का हिस्सा बना लिए भाग पर टिका है। उस हिस्से में मस्तिष्क के विकास और दाएँ-बाएँ मस्तिष्क की कार्य प्रणाली, प्रभाव, परिणाम आदि से संबंधित कई उपयोगी शोधपूर्ण जानकारियाँ जुटाई-दी गई हैं। बताया गया है कि ‘हमारी आधारभूत और निम्न कही जाने वाली भावनाएँ सब इसी बाएँ मस्तिष्क में उत्पन्न होती हैं। काम, वासना, भय, भूख का अनुभव, हिंसा, जान का बचाव करना, खतरा देखकर भाग निकलना, ये सब प्रवृत्तियाँ इसी की देन हैं। संसार भर के अधिकांश पेशेवर अपराधी-विशेषकर कातिल और बलात्कारी लोगों में बाएँ मस्तिष्क को दाएँ से ज्यादा सक्रिय पाया गया है।’ (पृ. 298) पढ़ते-पढ़ते मस्तिष्क में विद्युत गति से यह विचार आया कि अदीबों-रचनाकारों के विचारों-लेखन में विषय, पात्र, भाषा के चयन और प्रस्तुति आदि के स्तर पर जो अंतर आता-दिखता है, उसमें प्रमुख कारण इन्हीं में से किसी एक हिस्से का अधिक प्रबल, प्रखर और सक्रिय होना ही होता होगा। लेखक ने इन दोनों के इस अंतर को ध्यान में रखकर ही शायद दाएँ मस्तिष्क को इनसानी और बाएँ को कीड़े-मकोड़े जैसा कहा है और इस कहानी में के घटित ‘कमजोर, भयभीत, बचने-भागने से संबंधित क्षणों-चित्रों को कथक पर उसी के हावी होने का परिणाम माना है।’ (पृ. 299) इस कीड़े-मकोड़े जैसे बाएँ मस्तिष्क का ही यह चमत्कार था कि कहानी का ‘मैं’ कोठी में आए बवंडर वाले खतरे के सामने जानवरों की तरह मृतकवत दम साधकर पड़ नहीं गया। (पृ. 304) एक अन्य स्थान पर फ़ारुकी साहब ने अपने बचपन को याद करते हुए कार्य-कारण संबंध की चर्चा करते हुए बचपन के मस्तिष्क को उम्र या ज्ञान के आधार पर छोटा-सीमित और बाद वाले को शायद अपेक्षाकृत बड़ा और असीमित भी कहना चाहा है। साथ ही बहुत बेहतर ढंग और उदाहरण के साथ दोनों के अंतर के स्पष्टीकरण को अपनी कहानी में अपने अंदाज़ में स्थान भी दिया है। अंग्रेज़ी के दो शब्दों-कॉज और रीजन-जिनके लिए हिंदी के क्रमशः कारण और मूल कारण का प्रयोग हुआ है, के बारे में उनका निष्कर्ष है-‘ऐसा कुछ ज़रूरी नहीं कि किसी

चीज़ का कारण मालूम हो जाए तो उसका मूल कारण भी ज्ञात हो सके।' (पृ. 300)

जरा पहले तक मैं 'लाहौर की एक घटना' में प्रयुक्त भिन्न-भिन्न घटनाओं, विषयों, साहित्यिक संदर्भों-संकेतों या अन्य विषयों की चर्चाओं-वार्तालापों को अंग्रेज़ी उपन्यासकार ए. एस. बायट की तरह मनमर्जी ऐसे प्रयोग करके आनंद लेने जैसा एक तरीका (पृ. 21) - कहानी का शिल्प ढंग और हिस्सा समझ-मान रहा था और हाँ, लाहौर को कहानी में केंद्रीय तो नहीं, पर प्रमुख भूमिका दिए जाने को मैंने अंग्रेज़ी के ही उपन्यासकार एकरायड के उपन्यास 'चैटर्न' का प्रभाव और उससे प्राप्त सीख का परिणाम माना हुआ था। अब यहाँ मन-मस्तिष्क संबंधी ऐसे इन प्रयोगों के बारे में सोचते-लिखते समय मुझे लग रहा है कि इस कहानी का मूल्यांकन यदि मनोविज्ञान-स्वप्न सिद्धांत के आधार पर किया जाए तो वह और भी दिलचस्प, उपयोगी और एक बेहतर प्रयास होगा। इस विचार के साथ ही मुझे कहानी में के गुमटियों पर लगे जमघट के बेफ़िक्र नौजवान, समलैंगिकों या देह-व्यापार करने वालों जैसी उनकी चेष्टाएँ-क्रियाएँ, अल्लामा इक़बाल की कोठी, मलगजी कमीज़ वाला वह व्यक्ति, 'मैं' का लौटना, कार के साथ खुद को बचाने के लिए जूझना-भागना और फिर वह कोठी जिसमें उसने शरण ली, वहाँ का दालान, सहदरी, कमरा, बाथरूम, दरवाज़ा, वहाँ दिखीं वे औरतें, नौकर, मलगजी कमीज़ वाले उस आदमी का आना, पिस्तौल और एक साए के साथ ही बवंडर का आना, 'मैं' का वहाँ से बचकर उलटे पैर चलकर वापस आना, गाड़ी का गायब होना आदि आदि देखे गए कहानीकार के स्वप्न और उस स्वप्न के आधार पर कहानी और कहानीकार के मनोजगत से परिचित करा सकने वाले संकेत और प्रतीक नज़र आने लगे। साथ ही 'मैं' की वह 'शरण-स्थली' जिसे उसने कभी कोठी, कभी बड़ा-सा एक

बंगला तो कभी 'पैशाचिक भवन' कहा है, की एक-एक घटना मेरे मस्तिष्क में चक्कर काटने लगी। दरवाज़े से निकली उस काली-सी चीज़ जो आँगन में आकर काला बड़ा बवंडर बनकर स्थापित हो गई और जिसके लिए लेखक ने प्रेत, ईश्वरीय प्रकोप व अलौकिक मामला जैसे शब्दों का प्रयोग किया है- 'मैं' के कई-कई अर्थों-संकेतों को पकड़ने-समझने की दिमाग कोशिशें करने लगा। कुछ तो था ही कि मुक्तिबोध की 'ब्रह्मराक्षस' और 'अंधेरे में' कविताएँ एवं उनकी बावड़ी और उसकी सीढ़ियों का ध्यान आना खुद-ब-खुद शुरू हो गया। स्मृति और सोच के उन्हीं मिले-जुले-गुंथे-से क्षणों में यकायक कौंधा कि नहीं, यह कोठी, उसमें का घटित अपने प्रतीकार्थ में केवल लेखक के 'मन के सिर छिपाने की जगह' या शरण-स्थली भर नहीं है वह किसी भी इंसान के मस्तिष्क का लगभग वो दो तिहाई हिस्सा है जिसे अचेतन मस्तिष्क के नाम से जाना जाता है और व्यक्ति की समस्त चेष्टाओं, क्रियाओं, अभिव्यक्तियों का मूल उत्स और उत्प्रेरक भी वही है।

मुझे लगता है मस्तिष्क के दाएँ-बाएँ हिस्से संबंधी विचार की इस कहानी की नींव धराने-जमाने में अहम भूमिका है। यह भी कि कहानी का 'मैं' जहाँ अपनी जान के खतरे का कारण जानने की कोशिश से शुरू करके कारणों के कारणों को ढूँढ़ते-खोजते इस - इन निष्कर्ष तक पहुँचता है कि 'तो क्या सारी दुनिया केवल कारणों की कहानी है'...तो लगता है कि कहानी में के बहुत से विन्चस्त, अस्त-व्यस्त को दार्शनिक से अंदाज़ में अच्छा-भला सीख देता-सा एक मुकाम मिल गया है। इस कहानी से जीवन-जगत की दुश्वारियों-मुश्किलों से जूझने-टकराने की उम्मीद ही क्यों की जाए, जबकि साफ जाहिर है कि वह समाज के नहीं व्यक्ति विशेष के स्वप्न और उसमें के संकट से जुड़ी कहानी है और जुड़ाव भी स्वप्न-सा ही सच और जादुई-जादुई!

**कृष्णाधाम कॉलोनी  
आगरा रोड, अलीगढ़ (उ. प्र.)  
फ़ोन 9412176047**



---

## खण्ड – 2

## भारतीय सामाजिक संस्कृति: विश्व बन्धुत्व का आधार

डॉ. अमानउल्ला खाँ

किसी देश की आध्यात्मिक और मानसिक विभूति को देश की संस्कृति कहा जाता है। भारतीयों की सम्पूर्ण मानसिक निधि की अभिव्यक्ति का नाम ही भारतीय संस्कृतिक है। यह भारतीय जनता की विविध साधनाओं की सुन्दरतम परिणति है। प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में भारतीय संस्कृति का विकास हुआ है। इसका दिव्य रूप वैदिक काल के प्रबुद्ध ऋषियों और मनीषियों द्वारा प्रदान किया हुआ है। भारतीय चिन्तकों द्वारा इसमें विकास किया जाता रहा है। प्राचीनतम सामासिक प्रवृत्ति है। आध्यात्मिकता, समन्वय बुद्धि, प्रेम, अहिंसा, मैत्री, वर्णश्रण, विभाग, प्रकृति, उत्सवप्रियता, विचार स्वतन्त्रता, धर्मपरायणता, सहिष्णुता, उदारता, पुरुषार्थ कर्मवाद, अवतारवाद, नारी सम्मान, विश्व कल्याण और भाईचारे की भावना आदि भारतीय संस्कृति की उल्लेखनीय विशेषतायें हैं। सबसे विशेष भावना भारतीय संस्कृति की सामासिक प्रवृत्ति ही है।

सामासिक संस्कृति की भावना भारतीय संस्कृति की प्रमुख भावना है इस भावना के धार्मिक ग्रन्थों में समन्वयवाद पर विशेष बल दिया गया है। भारतीय मनीषियों ने जीवन के विविध क्षेत्रों में सदैव सर्वदा समन्वय करने के प्रयास किये हैं। समन्वय-बुद्धि का मुख्य आधार है- आध्यात्मिकता और यही भारतीय संस्कृति का प्रधान तत्त्व भी है। भारतवासी प्रारम्भ से ही नाम रूप से परे एक सत्ता है, जो आदि कारण है। वह विश्वात्मा हम सबमें विद्यमान है। सब उसी के रूप हैं। एक मात्र वही प्राप्तव्य है। उस परमशक्ति को अपने रूप में ही जाना जा सकता है। इसीलिये कहा गया है-यस्तु सर्वाणि भतान्यात्मन्ये वानुपश्यति।/सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजिगुप्सते।।(इशोपनिषद, 6)

अर्थात् जो अपने को सबमें और सबको अपने में देखता है, वही वस्तुतः देखता है, क्योंकि तब वह किसी से घृणा नहीं करता है। इस प्रकार की अध्यात्म भावना के आधार पर ही भारतीय संस्कृति ने विविध क्षेत्रों में समन्वय किया और धार्मिक तथा साम्प्रदायिक विद्वेष की भावना ने भी समन्वय बुद्धि को दृढ़ करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई,

भारत की सामासिक संस्कृति विरोध में अविरोध की स्थापना करते हुये समन्वय की प्रवृत्ति को बढ़ाने का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

सामासिक संस्कृति के अन्तर्गत सर्वप्रथम धार्मिक क्षेत्र में समन्वय बुद्धि दिखाई देती है। पौराणिक हिन्दू धर्म वस्तुतः निगमागम धर्म ही हैं इस धर्म का आधार केवल श्रुति नहीं, स्मृति और पुराण भी है। वैदिक धर्म में सुधार के लिये भगवान बुद्ध ने बौद्ध धर्म का उपदेश दिया। परन्तु इससे प्राचीन धर्म का नाश नहीं हुआ, अपितु उसके स्थान पर बौद्ध धर्म के उपदेशों को सनातन धर्म में सम्मिलित किया गया। बौद्ध वृक्ष को भारतीयों का पवित्र वृक्ष माना गया और महात्मा बुद्ध को भगवान का अवतार मानकर पूजा जाने लगा। हिन्दू धर्म में ही विविध आन्दोलन होते रहे, अनेक परम्पराओं और सम्प्रदायों ने जन्म लिया, अलग-अलग देवताओं के महात्म्य को स्वीकार करने के कारण प्रधानतया उनकी उपासना को लेकर ही मत-मतान्तर चले, परन्तु भारतीय संस्कृति की समन्वयात्मक प्रवृत्ति के कारण उनमें परस्पर विरोध और विद्वेष रहने पर भी वह काफ़ी उग्र रूप धारण न कर सका। भारतीय संस्कृति की मूल प्रेरक शक्ति 'आध्यात्म भावना' ने क्रमशः उनमें समन्वय और एकता स्थापित करने में सफलता पाई। इसी कारण अनेक धर्मों और सम्प्रदायों के विकसित होने पर भी भारत में सदा सामासिक संस्कृति में ऐक्य दिखाई देता है।

वैदिक देवतावाद के मूल में भी यही समन्वय भावना दृष्टिगत होती है। अनेकता में 'एकता' खोजना वैदिक आर्यों का प्रमुख सिद्धान्त था-ए सद्दिप्राः बहुथा वदानित, अग्नि यम मातरिश्वा नमाहुः।।(ऋग्वेद)

अन्यत्र यजुर्वेद के ऋषि ने विविध वेदों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करते हुए कहा है- तदैवा डम्निस्तदाडदित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।/तदैव शुक्र तद् ब्रह्म तो आपः से प्रजापितः।।

पौराणिक काल में विभिन्न सम्प्रदायों के आराध्य देव, (शिव, ब्रह्मा, विष्णु, बुद्ध कर्ता, अर्हत, कर्म इत्यादि एक ही परमात्मा के रूप है- इस प्रकार की भावना के साथ भगवान

की स्वीकृति करते हुये ऐक्य को बनाया गया है- वैष्णव धर्म में 33 करोड़ देवता हैं लेकिन सब देवताओं को किया गया नमस्कार केशव को ही प्राप्त होता है। भारतीय सामाजिक संस्कृति के सन्दर्भ में डॉ. राजकुमार ने अपनी पुस्तक में लिखा है- “भारत में समय-समय पर अनेक विदेशी जातियाँ यवन, शक, कुषाण, हूण, अफगान, मुगल इत्यादि आती रही। समन्वय भावना के कारण वे सब न केवल भारतीय समाज का अंग बन गई, अपितु उनके कई धार्मिक विश्वासों, विचारों परम्पराओं और कृत्यों ने विशाल सनातन धर्म में स्थान पाया। इसी उदात्त प्रवृत्ति के कारण भारतीय संस्कृति में विदेशी धर्मों के प्रवर्तकों ने ही ‘दीने इलाही’ के रूप में मूर्त रूप धारण किया था, यद्यपि वह प्रयत्न अधिक सफल नहीं हो सका। मुसलमानों के सूफ़ी सम्प्रदाय में भारत के अध्यात्मवाद, योग-साधन और रहस्यवाद भी सम्मिलित किये गये।”

भारतीय संस्कृति सामाजिक स्तर पर भी अनेक प्रकार के समन्वय किये जिसमें वर्णों का समन्वय प्रमुख है। समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया, पर साथ ही उन्हें... शरीर का अंग-स्थानीय बताया गया-ब्राह्मण विराट पुरुष का मुख है, क्षत्रिय उसकी दोनों भुजाये हैं, दोनों जंघाओं वैश्य है और दोनों पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई है। समाज रूपी शरीर की पुष्टि और समृद्धि के लिये निश्चय ही यहाँ ये सभी वर्ण एक दूसरे पर आश्रित माने गये हैं। भारत की वर्तमान संस्कृति अनेक संस्कृतियों के सम्मिश्रण का परिणाम है, सर्वप्रथम तो वैदिक और वैदिकेतर संस्कृतियों का ही समन्वय हुआ। फिर यह प्राचीन यूनानी, शक, हूण, कुषाण आदि आक्रमणकारी जातियों से ही प्रभावित नहीं हुई, अपितु अरब, अफगान, मुगल और अंग्रेज़ों ने भी इस पर अपना प्रभाव छोड़ा है। अनेक जातियाँ और संस्कृतियाँ तो भारत में ही विलीन हो गई। किसी भी संस्कृति आदर्शों को अपनाने में भारतीयों को कभी समस्या नहीं हुई।

भारत की सामाजिक संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है साहिष्णुता, प्राचीनकाल में सब धर्मों और जातियों में यह भावना उग्र रूप से पायी जाती थी। यूनान में सुकरात को इसीलिये जहर का प्याला पीना पड़ा था, फिलीस्तीन में इसी कारण ईसा को सूली पर लटकना पड़ा था। प्राचीन इतिहास में सम्भवतः भारत ही एक मात्र ऐसा देश था, जहाँ हिंसा और धर्मान्धता का प्राधान्य नहीं रहा। सामान्य विजेताओं की नीति प्रायः विध्वंस और विनाश की होती है। डॉ. राजकुमार ने लिखा है “धर्म की दृष्टि से न केवल एक धर्म ने दूसरे धर्म पर किन्तु अपने ही धर्म में विभिन्न मत रखने वालों पर जो भीषण अत्याचार किये उनसे यूरोपियन इतिहास के अनेक

रक्तरंजित हैं। सोलहवीं शताब्दी में चार्ल्स पंचम के शासन काल में केवल हालैंड में रोमन कैथोलिकों से भिन्न सिद्धान्तों वाले जिन प्रोटेस्टेण्टों को चिंता पर जलाकर या अन्य ढंगों से मारा गया, उनकी संख्या पचास हजार थी। फ्रान्स में फ्रान्सिस प्रथम ने 1545 ई. में अपनी मृत्यु से पूर्व आलफ पर्वतमाला के तीन हजार निरीह निःशास्त्र कृषकों के कत्ले आम की आज्ञा देकर आत्मिक शान्ति प्राप्त की। उनका एक मात्र अपराध यह था कि के ईसाइयत के मूल सिद्धान्त में विश्वास रखते हुए पोप तथा पादरियों की प्रभुता नहीं मानते थे।”<sup>2</sup>

भारतीय सामाजिक संस्कृति जीवन के प्रति आशा और उत्साह दिखाई देता है। यहाँ का भौतिक जीवन उपेक्षित नहीं है। भारतीय सामाजिक संस्कृति के आधुनिक रूप और उसकी उपयोगिता के विषय में डॉ. राजकुमार ने प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैक्समूलर के हवाले से लिखा है- “आधुनिक संदर्भ में इस संस्कृति को सुरक्षित करने की और इसकी उपयोगिता को बढ़ाने की विशेष आवश्यकता है। चूँकि संस्कृति माधुर्य और प्रकाश को पाने की तृष्णा है। इसे भारतीय संस्कृति के विकास से ही पाया जा सकता है।”

इसीलिये कदाचित भारतीय संस्कृति का दूसरा नाम मानव संस्कृति भी है। यहाँ मानव मात्र के लिये आकर्षण है। हमारे भीतरी जीवन को और अधिक परिपूर्ण और अधिक विस्तृत और अधिक परिष्कृत कैसे बनाया जा सकता है, यही प्रेरणा हमारी संस्कृति में मिल सकती है।”<sup>3</sup>

ब्रिटिश शासन के प्रभावों के पूर्व भारत का आर्थिक जीवन एक सीमा तक आत्मनिर्भर ग्रामीण समुदायों पर आधारित था। यह ग्रामीण समुदाय अपनी अधिकतर आवश्यकताओं की पूर्ति अपने आन्तरिक उत्पादन से ही कर लेते थे। कृषि जीवनयापन का प्रधान साधन था। किन्तु खेतों की उपज का प्रयोग उसे बेच कर पैसा करने के लिये नहीं, बल्कि अपने परिवार अथवा अन्य विभिन्न सेवा प्रदान करने वाले परिवारों की भोजनादि की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये होता था। अंग्रेज व्यापारी जब भारत में आये तो उन्हें आर्थिक व्यवस्था का उपरोक्त रूप मिला। किन्तु उनके व्यापार की आवश्यकताओं के अनुकूल यह नहीं था। वह जिस ढंग से व्यापार करना चाहते थे वह आत्मनिर्भर गांवों की अर्थव्यवस्था से मेल नहीं खाता था। इंग्लैंड के उद्योगपति भारत को अपना वास्तविक उपनिवेश बनाना चाहते थे अर्थात् यहाँ वह अपने मशीन उत्पादन के माल को बेचना चाहते थे और यहाँ से कच्चा माल सस्ते दामों में अपने धंधों के लिये ले जाना चाहते थे। इन नीतियों का एक परिणाम परिवहन तथा संसाधनों का विकास हुआ।

यद्यपि भारतीय समाज पर आधुनिक प्रभाव बाहर से आये, किन्तु इन प्रभावों को भारतीय समाज ने ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं कर लिया। भारतीय संस्कृति व समाज में ऐसा होना स्वाभाविक ही था। वाह्य प्रभावों ने भारतीय समाज की प्रक्रियाओं को प्रभावित तो किया किन्तु प्रक्रियाएं इस समाज की ही रही। उदाहरण के लिये आधुनिक विचारों को ज्यों का त्यों बाहर .... भारतीय समाज ने नई स्थिति का सामना करने के लिये विविध विचारधाराओं को आंदोलनों का जन्म दिया। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज व आर्य समाज, समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से आधुनिक प्रभावों के प्रति भारतीय समाज की प्रतिक्रिया के अंशतः परिणाम माने जा सकते हैं। इस सन्दर्भ में पाश्चात्य विद्वान, मैक्सबेवर के विचार हैं- “यद्यपि आर्य समाज ने वेदों के प्रचार व वैदिक समाज थे। पुनरुद्धार का नारा लगाया किन्तु वस्तुतः इस आन्दोलन के द्वारा भारतीय समाज आधुनिकता की ओर अग्रसर हुआ। जिस प्रकार यूरोपीय देशों में रिफ़ोरमेशन के आंदोलनों ने सत्रहवीं शताब्दी में मध्यकालीन दृष्टिकोण पर प्रहार करके आधुनिक समाज के उदय के लिये मात्र प्रशस्त किया।”<sup>4</sup> उसी प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में उन्नीसवीं शताब्दी के आर्य समाज जैसे उदार आंदोलनों ने मध्ययुगीन संस्थाओं व विचारों का विरोध कर आधुनिक सामाजिक मूल्यों को लाने में योग दिया।

ब्रिटिश शासन काल में नये प्रकार के मध्यम वर्ग का उदय भी भारत में हुआ। यूरोपीय देशों में मध्य काल के अंत के समय जैसे मध्यम वर्ग ने सामाजिक परिवर्तन का नेतृत्व किया, ठीक वैसा मध्यम वर्ग तो सम्भवतः भारतवर्ष में नहीं बना परन्तु यहाँ भी उद्योग, व्यवसाय, वकालत, डॉक्टरी, प्रशासन, शिक्षा आदि से सम्बन्धित मध्य वर्ग के प्रभाव का बढ़ना सामाजिक दृष्टि से क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ। इस वर्ग की मान्यताएं व इसके हित ब्रिटिश शासन काल में धीरे-धीरे इस वर्ग की शक्ति व प्रतिष्ठा बढ़ती गयी। प्रारम्भ में ब्रिटिश शासकों ने भी इसे प्रश्रय दिया क्योंकि उनकी बहुत-सी नीतियों को इस वर्ग का ही समर्थन मिल सकता था। किन्तु जब इस वर्ग ने ब्रिटिश शासन को अपने व देश के विकास में बाधक पाया तो ब्रिटिश शासन का विरोध करने में इसने नेतृत्व ग्रहण किया। आधुनिक काल का भारतीय साहित्य, कला, दर्शन आदि मुख्यतः इसी वर्ग के विचारों से अनुप्राणित है। परम्परागत सामन्त वर्गीय व धार्मिक विचारों का इस काल में ह्रास हुआ है। ये भी सामासिक संस्कृति की ही देन है कि स्वतंत्रता के बाद भारत में जो संविधान स्वीकार किया गया। वह मूलतः आधुनिक मानदण्डों एवं आदर्शों पर आधारित है। वह स्वतंत्रता और सामनता पर आधारित समाज के आदर्श

मानता है। जन्म पर आधारित ऊँच-नीच व छुआछूत को वह अमान्य घोषित करता है व लिंग, जाति, धर्म आदि पर आधारित पक्षपात को गैर कानूनी ठहराता है। सरकार का जो ढांचा इस संविधान द्वारा भारत ने स्वीकार किया है वह ब्रिटेन के संसदीय ढंग से बहुत मिलता-जुलता है। भारत की सामासिक संस्कृति प्रकृति प्रदत्त लगती हैं यही कारण है कि सामाजिक परिवर्तन भी यहाँ पर तेजी से होते हैं और अन्य विचारधाराओं को आत्मसात् करने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती तथा अनेकानेक विचारधारायें एक साथ मिलकर भारत में सामाजिक संस्कृति के स्वरूप को प्रस्तुत करती हैं। जो बातें यूरोपीय समाजों में शताब्दियों में हुई वे यहाँ दशकों में हुई हैं। भारत में स्त्रियों को मताधिकार बिना किसी विशेष आंदोलन के प्राप्त हो गया है जबकि इंग्लैंड आदि देशों में इसके लिये स्त्रियों तथा उनके अधिकारों के समर्थकों को सौ वर्ष से अधिक समय तक आंदोलन चलाना पड़ा।

जिन पश्चिमी देशों में लोकतंत्र का प्रारम्भ सर्वप्रथम हुआ वहाँ भी स्त्रियाँ को वोट का अधिकार बहुत शीघ्र नहीं मिल सका था। भारत में स्त्री शिक्षा का प्रतिशत आधुनिक युग में अधिक देखने को मिलता है। सामाजिक संस्थाओं में भी आधुनिक युग की छाप देखने को मिलती है। आधुनिक युग में इन सभी में तीव्र गति से परिवर्तन देखने को मिलते हैं। अनेक परिवारों में एक पीढ़ी पूर्व चौके से बाहर रोटी आदि खाना अकल्पनीय-सा माना जाता था, किन्तु उन्हीं परिवारों के सदस्य आज बिना किसी हिचक के भोजनलयों रेलगाड़ियों एवं सार्वजनिक स्थलों पर अज्ञात लोगों द्वारा तैयार एवं परोसा खाना खा लेते हैं। प्रमुख समाजशास्त्री इंद्रदेव ने इस संदर्भ में कहा है- ब्रिटिश शासन के साथ भारत में व्यक्तिवादी, पूँजीवादी विचारों का आगमन हुआ। इनका प्रभाव राजनीति, अर्थव्यवस्था, कला, दर्शन आदि सभी क्षेत्रों में पड़ा किन्तु इन्हें पनपने का उतना अवकाश नहीं मिल पाया जितना कि पश्चिमी देशों में इन्हें मिला। इसी बीच औद्योगिक, पूँजीवादी सभ्यता का विरोध करने वाली विचारधाराओं जैसे समाजवाद, साम्यवाद आदि का प्रभाव बढ़ाने लगा था और भारतीय जनता व विचारक उससे अछूते न रह सके। .... भारत में विभिन्न विचारधारायें जल्दी-जल्दी एक के बाद दूसरी आती गई कभी-कभी उनके नये साम्मिश्रण भी दिखाई देने लगे। साहित्य, कला आदि में भारत में विभिन्न पद्धतियाँ जल्दी-जल्दी बदलती नज़र आती है।”<sup>5</sup>

सामाजिक संस्कृति में मिला-जुला सांस्कृतिक स्वरूप गुण और अवगुण दोनों को ही आत्मसात् करता दिखाई देता है। स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में बड़ी शीघ्रता से परिवर्तन की

लहर देखने को मिलती है। नागरीकरण से सम्बन्धित अपूर्ण उत्प्रवास का भारतीय ग्रामों तथा नगरों दोनों के सामज पर गहरा प्रभाव दिखाई देता है। एक ओर ग्रामों में युवा पुरुषों का अभाव दिखाई दिया और इसका बुरा प्रभाव खेती आदि पर हुआ दूसरी ओर भारतीय नगरों की जनसंख्या में लिंग संतुलन बिगड़ने से उसके सामाजिक प्रभाव देखने को मिले। भारत तथा दक्षिण पूर्वी एशिया के अनेक देशों के नगरों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या बहुत कम पायी गयी जिसके फलस्वरूप इस युग में दुराचार, वेश्यागमन व मद्यपान आदि बुरी आदतों में वृद्धि देखने.... अक्सर परिवारों में तनाव बढ़ने लगे, बाहर गये हुये व्यक्तियों की पत्नियों के दाम्पत्य जीवन में कड़वाहटें आने लगी। इस उत्प्रवास का भारतीय ग्रामों में आधुनिक ताकतों को लाने में बड़ा हाथ रहा। क्योंकि बाहर गये हुए व्यक्ति अक्सर गाँव में आते रहते हैं। ....यह लोग अपने साथ नगरीय ज्ञान, विचार और दृष्टिकोण लाते हैं जो कि गाँवों के जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित कर रहे हैं।

जिस प्रकार प्रत्येक प्राणी किसी नैसर्गिक गुण से युक्त होता है और उसकी कुछ निजी व्यक्तिगत विशेषतायें होती हैं, जो उसे अन्य व्यक्तियों से अलग करती है, ठीक वैसे ही प्रत्येक देश या समाज, संस्कृति का भी अपना विशिष्ट व्यक्तित्व होता है, जो उसे अन्य देशों, समाजों तथा संस्कृतियों से पृथक् करता है। किसी समाज की इन विशिष्ट विशेषताओं को ही हम उसकी संस्कृति का नाम दे सकते हैं।

भारतीय होने के नाते हम एक अत्यन्त महान् सामासिक सांस्कृतिक परम्परा के अधिकारी हैं। हमारी संस्कृति जिन आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों की प्रेरक रही है, उसका उदाहरण अन्य देश में मिलना असम्भव है। किसी भी समाज की संस्कृति अन्य समाज को प्रभावित करती है अथवा उससे प्रभावित होती है। सामाजिक आदान-प्रदान के द्वारा किसी भी देश की संस्कृति की जड़ें और सुदृढ़ होती हैं एवं वह और अधिक समृद्ध बनती हैं स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद हमें सांस्कृतिक दृष्टि से जिस ओर भौतिकवाद की दिशा जा रहे हैं उसे देखते हुये जान पड़ता है कि भारतीय चरित्र, दृष्टिकोण एवं मान्यताओं में ही आमूल परिवर्तन हो गया है। सांस्कृतिक मूल्यों के विलय एवं पराभव को देखते हुये भारत में एक नवीन पुनर्जागरण अनिवार्य प्रतीत होता है। स्वतंत्रता संग्राम के दौरान गांधी-युग में हम एक महान् लक्ष्य से प्रेरित एवं अनुप्राणित थे। अहिंसात्मक असहयोग, सहिष्णुता एवं आत्मबलिदान के आदर्श हमारे जन समुदाय को निरन्तर प्रेरणा एवं निदेशन प्रदान करते हुये उत्कर्ष की ओर ले जा रहे थे गांधी युग की समाप्ति के बाद ये आदर्श तो विलुप्त से

प्रतीत होते हैं और उनके स्थान पर एक लक्ष्य हीनता की सिद्धान्त एवं आदर्श की दृष्टि से एक शून्य रिक्तता की स्थिति उत्पन्न हो गई दिखाई देती है जो राष्ट्रीय चरित्र के लिये अच्छी नहीं थी।

भारतीय सामासिक संस्कृति की उन्नति एवं विकास हेतु जनमानस में पुनः आत्माविश्वास एवं भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों में आस्था उत्पन्न करने में एक नवीन पुनर्जागरण के साथ हिन्दी साहित्यकारों का विशेष योगदान रहा है। भारतीय नवजागरण जिन परिस्थितियों में प्रस्फुटित हुआ, उनमें देश सम्पूर्णतः उद्योगपति के अंधकार में डूब चुका था। कुछ प्रतिगामी, राष्ट्रविरोधी शक्तियां देश की स्वतंत्रता एवं एकता को ही व्यवसायिक दिशा में प्रगति क ठोस कदम उठाये गये। नये औद्योगिक संस्थानों पर अग्रसर हुआ। .....राष्ट्र के नैतिक उत्थान की सर्वथा उपेक्षा की गई इन परिस्थितियों में सांस्कृतिक मूल्यों का पराभव निश्चित था। पहले मद्यपान बुरा समझा जाता था किन्तु स्वातंत्र्योत्तर भारत में यह पाश्चात्य संस्कृति के अनुकरण से एक फैशन के रूप व्याप्त होने लगा। पश्चिमी वेशभूषा, आचार-विचार, खानपान एवं भाषा अपनाने की होड़ में आदर्श भारतीयता की पहचान गुम होती दिखाई देती है परन्तु साहित्यकारों ने अथक् प्रयासों से इस अंधकार से जनमानस को निकालने के प्रयास किये।

निश्चित रूप से किसी भी साहित्य पर समाज और संस्कृति का प्रभाव होता है और साहित्यकार उसी के अनुरूप साहित्य सृजन करता है धर्म, दर्शन, साहित्य और कला ये सभी तत्त्व मानव जीवन के विकास के श्रेष्ठ फल हैं। मानव जीवन के प्रयत्नों की उत्कृष्ट उपलब्धि है। विश्व के सर्वोच्च कथनों और विचारों का ज्ञान ही सच्ची संस्कृति है। विभिन्न संस्कृतियां भारत में समन्वय के साथ निवास करती हैं और यही इसकी विशेषता है। संस्कृति एक ऐसा विराट तत्त्व है जिसमें सभी कुछ समाविष्ट हो जाता है। मानव जीवन के ज्ञान, भाव और कर्म ये तीन पक्ष जिन्हें बुद्धि, हृदय और व्यवहार कहा जा सकता है, इन तीनों तत्त्वों का जब पूर्ण सामंजस्य होता है तब संस्कृति कहलाती है।

#### सन्दर्भ-

1. डॉ. राजकुमार, भारतीय समाज एवं संस्कृति, पृ. 28
2. वही, पृ. 34
3. वही, पृ. 197
4. मैक्स बेवर, द प्रोटेस्टेंट एथिक एण्ड द स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म, पृ. 56
5. इन्द्रदेव, द कोर्स ऑफ सोशल चेंज: हाइपोथिसिस डायोजेनीज, पृ. 74

**फैकल्टी ऑफ मेडीसन, ए.एम.यू., अलीगढ़**



## आधुनिक हिन्दी कवियों की दृष्टि में ग्राम्य जीवन

डॉ. ममता सिंह

गाँव और शहर परंपरागत रूप से विरोधी रहे हैं। गाँवों की उपेक्षा और शहरों के प्रति मोह यह शहरी संस्कृति की पहचान रही है। शासन तंत्र भी पहले नगरों की सुध लेता है तब गाँवों की। पढ़े-लिखे सुविधा जीवी लोग शहरों में ही रहना चाहते हैं। परिणामतः गाँवों में रहने वालों को दूसरी श्रेणी का नागरिक समझा जाता है।

यद्यपि गाँव शहरी पोषण के आधार स्रोत हैं, तथापि शहर द्वारा कृतज्ञता व्यक्त करने के बदले उन्हें हीन दृष्टि से देखा जाता है और उनका शोषण किया गया है। गाँवों को अशिक्षित असभ्य और मूर्ख माना जाता है। यह धारणा आज शिक्षा प्रसार और सुविधा विस्तार के बावजूद जारी है।

हिन्दी कवियों ने प्रायः इस धारणा का प्रतिकार करते हुये गाँवों का पक्ष लिया है इसलिये उनकी ग्राम दृष्टि में गाँवों की हीनता के प्रति करुणापूर्ण ममत्व और पक्षधरता है। वेश-धरों को शोषक और गाँवों को शोषित मानकर गाँवों के उत्थान तथा बेहतरी के लिये प्रयत्नशील है।

गाँवों के प्रति कवियों का दृष्टिकोण कैसा है, उनकी सोच की दिशा क्या है, यह विचारणीय है। आधुनिक युग के हिन्दी काव्य में पूंजीपति और सर्वहारा वर्ग को आधार मानकर कवि मैथिलीशरण गुप्त जी मानते हैं कि हमारे गाँव विपन्न हैं, लेकिन यह भी मानते हैं कि हमारा राष्ट्र गाँवों में ही बसता है-‘अपना राष्ट्र जाति निज जीर्ण/है ग्रामों में ही विस्तीर्ण।’

इसलिये गाँवों का सुधार अनिवार्य मानते हैं। हिन्दू में पूरा शीर्षक एक ही है- ‘गाँवों का सुधार’। इसमें गुप्त जी ने शिक्षित युवकों का आह्वान किया है कि वे पढ़-लिखकर गाँवों की ओर जायें। थोड़े साधनों से जीवन यापन कर गाँव के लोगों को दिशा-निर्देश दे ताकि वे लोग अच्छे गुण और ज्ञान सीखकर रूढ़ियों और अंधविश्वासों से मुक्त हो सकें-‘करके शिक्षा कार्य समाप्त/विद्यालय की पदवी प्राप्त/फिर तुम ग्रामों में कर वास/ग्रामीणों का करो विकास।’<sup>2</sup>

गुप्त जी मानते हैं कि ग्रामीणों में गुणों का अभाव नहीं है, वे परिश्रमी, श्रद्धालु और सेवाधर्मी हैं। वे सरलता और आस्था की मूर्ति होते हैं। यदि कोई अपने आचरण से उन्हें

जीत ले तो वे बिना दाम के गुलाम हो जाते हैं। अतः उनकी सेवा करके, उन्हें शिक्षा देकर, मार्ग बताकर उनका कल्याण किया जा सकता है, उन्हें स्वावलंबन एवं उन्नति के पथ पर चलाया जा सकता है। तब गाँव की दीनता की मूर्ति नहीं, सुख संपन्नता के प्रतिरूप हो जायेंगे। केवल कृषि कार्य ही नहीं घरेलू उद्योगों के विकास की भी बात गुप्त जी करते हैं। गाँव के परंपरागत उद्योग धंधे जीवित रहेंगे और कृषक भरपूर अन्न उपजा सकेंगे। तभी संपूर्ण ग्राम के स्वावलंबन की बात होगी। गुप्त जी कहते हैं-‘बढ़े घरेलू बहु व्यवसाय/जिनसे स्वावलंबन आ जाये/हो स्वतंत्र जीवन निर्वाह/रहे किसी को आह न डाह।’<sup>3</sup>

गाँवों की उन्नति के लिये कृषि में सुधार करना जरूरी है क्योंकि-‘कृषि सुधार में करो प्रयत्न/उपजे अन्न तुल्य ही रत्ना।’<sup>4</sup>

सारांशतः गुप्त जी की ग्राम दृष्टि आशा और प्रयत्न से परिपूर्ण है। वे मानते हैं कि हमारे गाँव विपन्न हैं लेकिन इस विपन्नता पर रोने के बदले उन्नति का उपाय ढूँढ़ने एवं प्रयत्न करने के लिये कटिबद्ध है-‘नयी युक्तियों में हो लीन/नयी उपजी हो स्वाद नवीन।’<sup>5</sup>

साथ ही उनकी आकांक्षा है कि-‘ग्राम-ग्राम में ग्रन्थागार/करें ज्ञान गुरु का विस्तार/बढ़े हिन्द हिन्दी पर प्यार/भरे राष्ट्र भाषा भंडार।’<sup>6</sup>

गाँवों के प्रति अपनी दृष्टि के संबंध में सुमित्रानंदन पंत जी सम्भवतः सर्वाधिक स्पष्ट है। इन्होंने गाँव को ही नहीं विश्व को गाँवों की दृष्टि से देखा है-‘देख रहा हूँ आज विश्व में ग्रामीण नयन से/सोच रहा हूँ जटिल जगत पर जीवन पर जन-मन से।’<sup>7</sup>

उसका कारण यह है कि पंत जी ग्रामों को मनुष्यता के मूल तत्त्वों और संस्कृति के अविष्कृत तत्त्वों से युक्त मानते हैं। यद्यपि यहाँ के लोग अविद्या के अंधकार से ग्रस्त हैं तथापि इसी अंधकार में जीवन के संस्कार सुरक्षित हैं शिक्षा के सत्याभासों ने ग्रामीण जीवन को विकृत नहीं किया है-मनुष्यत्व के मूल तत्त्व ग्रामों ही में अन्तर्हित/उपादान यानी संस्कृति भरे

यहाँ हैं अविष्कृत। शिक्षा के सत्याभासों से ग्राम नहीं है पीड़ित/जीवन के संस्कार अविद्यातम में जन के रक्षित।<sup>8</sup>

इसी संदर्भ में शांति जोशी जी ने कहा-“पंत को ग्रामीण जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव ही उनकी जन्म भूमि कोशानी वास्तव में एक गाँव ही है, पर्वत प्रदेश का गाँव। कालाकांकर में रहते हुये उन्होंने आस-पास के ग्रामीण जनों को निकट से देखा और अनेक कटु मधु अनुभवों को सहेजा है।”<sup>9</sup> इसलिए यह कहना उचित होगा कि पंत का ग्राम विषयक अनुभव कल्पित या बौद्धिक न होकर प्रत्यक्ष अनुभव पर आधारित है।

पंत ने ग्रामों की गरीबी और दीनता को निकट से देखा तथा उनके रूढ़िग्रस्त, अन्य विश्वासपूर्ण नियतिवादी जीवन दर्शन को गहराई से अनुभव किया। उनके विविध प्रकार से होने वाले शोषण का भी उन्होंने अनुभव किया। इन सबने उन पर गहरा प्रभाव डाला फलतः उन्होंने ग्रामीण जीवन की दुरावस्था को बदलने के लिए एक परिकल्पनावादी, जो परिकल्पना लोकायतन में विस्तार से अभिव्यक्त हुई है।

पंत गाँवों की अशिक्षा, गरीबी और रूढ़िग्रस्तता से विकल है। उन्हें ग्रामीणों पर दया भी आती है और क्रोध भी। वे चाहते हैं कि विज्ञान एवं चिकित्सा से रहित, शिक्षा और सभ्यता से दूर पशुवत जीवन व्यतीत करने वाले ग्रामीणों की दशा बदले। वे सभ्य शिक्षित और सुसंस्कृत जीवन व्यतीत करें, उनकी गरीबी दूर हो, उनका शोषण बन्द हो और वे परम्परागत जड़ता से मुक्ति प्राप्त करें-“जहाँ दैन्य जर्जर असंख्य जन पशु/जघन्य क्षण करते यापन/कीड़ों से रेंगते मनुज शिशु/जहाँ अकाल वृद्ध है यौवन।”<sup>10</sup> और “यहाँ नहीं है चहल-पहल वैभव विस्मित जीवन की।”<sup>11</sup>

उपरोक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि पंत गाँवों की दुरावस्था के प्रति करुणापूरित होकर केवल सहानुभूति प्रदर्शित करने वाले नहीं है। वे चाहते हैं कि इस स्थिति में बदलाव के ठोस प्रयत्न हो। इसी रूप में लोकायतन में कला-शिविर की परिकल्पना की गई है। पंत की ग्राम दृष्टि के विषय में शान्ति जोशी का मत सर्वथा उचित है कि “गाँवों की स्थिति का यथातथ्य चित्रण करने के लिए उन्होंने उस भावुकता से अपने को दूर रखा जो करुणा विगलित अश्रुप्रवाह में अपनी यथार्थ दृष्टि खो देता है। ग्राम जीवन का एक अविच्छिन्न अंग बनकर उन्होंने उसे समझा और उसकी कठिनाइयाँ, विषमताओं, गति अवस्था तथा घोर निर्धनता को दूसरों तक पहुँचाने के लिए इस तटस्थ दृष्टि को अपनाया जो प्रबुद्ध बौद्धिक सहानुभूति की अपेक्षा रखती है तथा जिसके बिना किसी तथ्य का समुचित निरूपण नहीं हो सकता। यह अनुभव की सम्पूर्णता को ज्ञात के द्वेत में समझना है।”<sup>12</sup>

इसी संदर्भ में दिनकर जी की ग्रामों के प्रति दृष्टि अपने काव्य में बड़ी व्यापक है, क्योंकि दिनकर जी ग्रामीण अंचल में पले-बढ़े लेकिन अपनी कविताओं में ग्रामों को उतना स्थान नहीं दे सके, जितना देना चाहिए। रेणुका में मात्र एक रचना ‘कविता की पुकार’ ऐसी है जिसमें कवि ने इतिहास से मुंह मोड़कर आग्रह पूर्वक गाँवों की ओर दृष्टिपात किया है। कविता कहती है-नालन्दा वैशाली में तुमरूला चुके सौ बार/धूसर भुवन स्वर्ग - गाँवों में कर पाई न विहार/आज यह राज वाटिका छोड़/चलो कवि, वनफूलों की ओर।<sup>13</sup>

ग्रामोन्मुखता का पर्याप्त लाभ कवि उठाते हैं और एक ही कविता में ग्राम जीवन की सरल, सहज झांकी प्रस्तुत करने में सफल होते हैं।

कवि ने गाँव के आर्थिक जीवन की विपन्नता का बड़ा ही कारुणिक चित्र खींचा है। इसी तरह ग्राम प्रकृति और ग्रामीणों के मनोरंजन कार्य का मोहक चित्र कवि की लेखनी से अंकित हुआ है। सब मिलाकर मात्रा की दृष्टि से कम होते हुए भी दिनकर के ग्राम-चित्रण में जीवन्तता और मार्मिकता है। कवि को कविता इसके लिए महल छोड़ कर तृणकुटी में प्रवेश करने और भिखारणी का वेश धरने के लिए तैयार है-विदयुत छोड़ दीप सजूंगी महल छोड़ तृण कुटी प्रवेश/तुम गाँवों के बनो भिखारी में भिखारणी का लूं वेश।<sup>14</sup>

आधुनिक युग के कवि जानकी वल्लभ शास्त्री की दृष्टि में गाँवों का चित्रण अछूता नहीं रह सका, इन्होंने राधा महाकाव्य में ग्रामीण जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण को भी स्पष्ट किया है। कवि ने “कैसा है और कैसा होना चाहिए” इन दोनों प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति की है। गाँव की स्थिति की दृष्टि से वे स्थिरतावादी रहे हैं। कवि मानते हैं-वन्दन कोलाहल को ढंक कर/गुंजा न श्रम की वाणी/सब दिन प्रजा रहेगी धरती/होंगे राजा-रानी<sup>15</sup>

लेकिन कवि गाँवों में आई जागृति की चेतना को अनुभव नहीं करता है। उसे विश्वास है कि-अब अपना अधिकार करेगा/स्थापित शोषित वर्ग/लेगा मार्ग निकाल मुक्ति का/किसे चाहिये स्वर्ग/खेत और खलिहान उसके होंगे/वह अधिकारी/गाँव नगर कोई क्यों/होगी उसकी धरती सारी।<sup>16</sup>

कवि की यह आकांक्षा उसके पात्रों के मुख से संकल्प की भाषा बनकर प्रकट होती है -अब गंवार नहीं रहेंगे/हम न हारे दांव/वह रहें नागरिक जाग्रत/प्रिय हमें हैं गाँव/नई संस्कृति सिरघुटों पर जब करेगी छांव।/..../फैला पांव।<sup>17</sup>

लेकिन इसके लिए सामूहिक नेतृत्व की आवश्यकता है जब तक ऐसा नहीं होगा विकास के ये संकल्प साकार नहीं होंगे। वस्तुतः विकास की आकांक्षा तभी पूरी होगी जब हम

आत्मनिर्भर होंगे। यह आत्मनिर्भरता ही स्वामी और सेवक सम्बन्ध को मिटाने में सक्षम हो सकेगी। इन भावों को मिली-जुली अभिव्यक्ति निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है-सैन्य शक्ति समेट जन/सैनिक बने प्रत्येक/छत्र एक नहीं कि/सामूहिक समाज विवेक<sup>18</sup>

चूंकि इस बदलाव की दृष्टि के साथ कवियों ने ग्राम चित्रण किया है, उनकी दृष्टि गांव के प्रति पक्षधर भले ही न हो, किन्तु सहानुभूतिशील अवश्य है। इस सहानुभूतिशीलता के कारण कवियों ने गांवों की विपन्नता, ग्रामीणों की अशिक्षा, कर्जदारी, शोषण आदि करुणामंडित चित्रण किया है। कवि मानते हैं कि गांव के लोग अशिक्षित होने के कारण नहीं, अपितु स्वभाव से सरल होने के कारण शोषण का शिकार होते हैं, जिससे गांवों में अधिकांशतः जन विपन्न होते हैं, उनके जीवन को बेहतर बनाने के लिये संघर्षशील होने के साथ-साथ कर्मवादी होना पड़ेगा। विपन्नता पूर्व जन्म के फल हैं, इस धारणा से बाहर निकलना होगा और अपनी इच्छा शक्ति को दृढ़ इच्छा शक्ति बनाना होगा।

सारांशतः गांवों के प्रति रुचि का दृष्टिकोण परिवर्तन की आकांक्षा से युक्त आदर्शपूर्ण और आशा मूलक है। वह चाहता है कि गांव अपने पारम्परिक व्यक्तित्व को बदलकर

नया कर्मशील आत्मनिर्भर रूप धारण करें।

#### संदर्भ-

1. मैथिलीशरण गुप्त, हिन्दू, पृ. 821
2. वही, पृ. 79
3. वही, पृ. 115
4. वही, पृ. 117
5. वही, पृ. 118
6. वही, पृ. 119
7. सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली भाग-2, पृ. 1321
8. वही, पृ. 32
9. शांति जोशी, सुमित्रानंदन पंत जीवन और साहित्य, पृ. 420
10. वही, पृ. 422
11. सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली भाग-2, पृ. 131
12. वही, पृ. 38
13. सुमित्रानंदन पंत जीवन और साहित्य, पृ. 422
14. रेणुका, रामधारी सिंह दिनकर, पृ. 23
15. वही, पृ. 24
16. राधा, प्रभात पर्व जानकी वल्लभ शास्त्री, पृ. 50
17. वही, पृ. 58
18. वही, पृ. 82

**विभागाध्यक्ष (हिन्दी), स्वामी विवेकानंद विश्वविद्यालय, 26, नरसिंहपुर रोड, सिरौंजा**

#### पृ. 62 का शेष भाग.....

10. Macquarrie, John, Exstentialism, New York : world publisher, published - 1972, P. 15
11. अस्तित्ववाद, दार्शनिक तथा साहित्यिक भूमिका, पृ. 29
12. इस्सर, देवेन्द्र, साहित्य और आधुनिक युगबोध, अजमेर, जयकृष्ण अग्रवाल प्रकाशन, 1973, पृ. 51
13. भारती, धर्मवीर, अंधा युग, पृ. 35
14. अस्तित्ववाद, दार्शनिक तथा साहित्यिक भूमिका, पृ. 29
15. साहित्य और आधुनिक युगबोध, पृ. 49
16. भारती, धर्मवीर, अंधा युग, पृ. 74
17. वही, पृ. 26
18. भारद्वाज, मैथिली प्रसाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांत, हरियाणा साहित्य अकादमी, पृ. 235
19. खेतान, प्रभा, सार्त्र का अस्तित्ववाद, दिल्ली, सरस्वती विहार, 1984, पृ. 144-45
20. अंधा युग, पृ. 54-55
21. वही, पृ. 58
22. विनय, नीलेश-शक्ति का सिद्धांत, दिल्ली, मदनलाल

- एंड संस, 2008, पृ. 73
23. सिन्हा, अजित कुमार, समकालीन दर्शन, चण्डीगढ़, हरियाणा हिंदी ग्रन्थ अकादमी, 1973, पृ. 226
24. अंधा युग, पृ. 74
25. वही, पृ. 21
26. सार्त्र का अस्तित्ववाद, पृ. 106
27. अंधा युग, पृ. 42
28. शाही, योगेन्द्र, अस्तित्ववाद, किर्कगार्ड से कामू तक (दूसरा संस्करण), नई दिल्ली, दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, 1978. पृ. 87
29. भारती, धर्मवीर, अंधा युग, पृ. 111
30. सिन्हा, अजित कुमार, समकालीन दर्शन, चण्डीगढ़, हरियाणा हिंदी ग्रन्थ अकादमी, 1973, पृ. 216
31. साहित्य और आधुनिक युगबोध, पृ. 50
32. अंधा युग, पृ. 18
33. विनय, नीलेश-शक्ति का सिद्धांत, पृ. 40
34. अंधा युग, पृ. 57
35. वही, पृ. 53

**कमरा नं. 37 ब्लाक-1, छात्रावास -5 पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़-160014**

## अशोक वाजपेयी : गहन अनुभूतियों का कवि

अनिल कुमार

अशोक वाजपेयी समकालीन कविता के महत्त्वपूर्ण कवि हैं। इनका काव्य सम्बन्धी चिन्तन आधुनिक जीवन बोध से जुड़े हुए समर्थ बौद्धिक और संवेदनशील व्यक्ति की सोच का ही परिणाम है। वाजपेयी आधुनिक हिन्दी साहित्य के उन मूर्धन्य रचनाकारों में से एक है, जिन्होंने अपनी सृजनशीलता और विचारोत्तेजना से हिन्दी साहित्य में एक विलक्षण पहचान बनाई है। अशोक वाजपेयी पिछले 45 वर्षों से अपनी रचनाओं के माध्यम से हिन्दी साहित्य में न केवल लिखा बल्कि उसे अपनी रचनाओं से गुणात्मकता भी प्रदान की है तथा आज भी वे निरन्तर साहित्य-सृजन कर रहे हैं।

अशोक वाजपेयी अपने कवि कर्म पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं- “कविता लिखने का मेरा बुनियादी सरोकार संवेदना संसार को छूने का है, स्पर्श मुझे बहुत आकर्षित करता है और उसके प्रति मैं बहुत चौकन्ना भी हूँ। मैंने दुर्भाग्य से जो रास्ता चुना वह दूसरा रास्ता है। यह रास्ता ऐन्द्रिकता के खुले स्वीकार का रास्ता है। मैं एक व्यक्ति हूँ और मैं संसार को छूना चाहता हूँ और कविता में छूने की एक मात्र विधि उसे ऐन्द्रिक स्तर पर पाने की है। यह ऐन्द्रिकता चाहे प्रेम की हो, चाहे मृत्यु की।”

अब तक इनके 15 काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं - शहर अब भी संभावना (1966), एक पंतग अनंत में (1984), अगर इतने से (1986), तत्पुरुष (1989), कहीं नहीं वही (1990), बहुरि अकेला (1992), अविन्यों (1995), अभी कुछ और (1998), समय के पास समय (2000), इबारत से गिरि मात्राएँ (2994), दुख चिट्ठिरसा है (2008) आदि। इनकी कविताओं के अनुवाद गुजराती, मराठी, अंग्रेज़ी, राजस्थानी, बंगला, उर्दू और फ्रेंच में भी प्रकाशित हुई हैं। कविता के क्षेत्र में योगदान के लिए इन्हें अनेक सम्मानों से नवाजा जा चुका है।

विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न बहुमुखी व्यक्तित्व के स्वामी अशोक वाजपेयी की कविता ‘अनुभूति’ के विभिन्न सोपान इस अग्रलिखित विस्तार से स्पष्ट होते हैं-‘अनुभूति’ शब्द हिन्दी का अपना पारिभाषिक शब्द है। ‘अनुभूति’ मन की वह

क्रिया है जो बाह्य वस्तुओं के सुख-दुख के प्रभाव से अन्तर्मन में भावों को जगाती है। संस्कृत में ‘अनुभूति’ अनुभव का समानार्थी है। इसका अभिप्राय है - साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञान या निरीक्षण और प्रयोग से प्राप्त ज्ञान। जहाँ तक कविता का संबंध है, इस क्षेत्र में ‘अनुभूति’ शब्द का व्यापक प्रयोग किया जाता है। भावानुभूति, रसानुभूति, लौकिक अनुभूति, अलौकिक अनुभूति, प्रत्यक्षानुभूति, समानुभूति, रहस्यानुभूति, काव्यानुभूति आदि अनेक रूपों में इसका प्रयोग कविता में मिलता है।

कोई भी साहित्यकार या कलाकार जब कला की सर्जना करता है तो प्रारम्भिक चरण में वो उसकी अनुभूति मन-मस्तिष्क में करता है। यही आन्तरिक भाव उसे सर्जन के लिए प्रेरित करता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अनुभूति किसी रचनाकार के आन्तरिक भावों को कहते हैं। इसमें रचनाकार की वह विशिष्ट अपेक्षाकृत चिरोत्रो जड़, भावना-प्रधान मुख्यतः आत्मनिष्ठ, सौन्दर्य बोधात्मक, मौलिक तथा रचनाधर्मी समग्र अनुभव है जिसे बाह्य के आभ्यान्तरिकरण की अवस्था का अगला महत्त्वपूर्ण चरण कहा जा सकता है। अशोक वाजपेयी के काव्य संसार में गहन अनुभूति के सभी बिन्दुओं को सहज भाव से देखा जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है।

वैयक्तिक अनुभूति अशोक वाजपेयी के काव्य में मुखर रूप से प्रस्तुत होती हैं। जिनका सम्बन्ध किसी व्यक्ति के निजी जीवन से होता है। जिसके अन्तर्गत उसका घर-परिवार, प्रेम, उसके जीवन के विभिन्न उतार-चढ़ाव, संघर्ष आदि आते हैं। अशोक वाजपेयी आधुनिक हिन्दी कवियों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इनकी रचनाओं में उनके व्यक्तिगत संदर्भों से जुड़ी विभिन्न घटनाओं, स्थिति, परिस्थिति की स्पष्ट झलक मिलती है।

घरेलू स्थितियों और अनुभूतियों के क्रम में जीवन की शाश्वत सच्चाई से उठकरने की कला वाजपेयी जी की कविताओं में उपस्थित है।

अशोक वाजपेयी ने अपने अतीत से जुड़ी स्मृतियों को आधार बनाकर कुछ कविताएं लिखी हैं जिनमें बचपन तथा

अपने पुराने घर की स्मृतियाँ प्रमुख हैं, वे लिखते हैं-बचपन के घर के सामने कठचन्दन था/मौल श्री थी/कड़ी धूप में हम शहर घूमते थे/और ठण्ड की रात में गरम दूध में/ताज़ी रोटी मसलकर खाते थे/बचपन कभी नाना की जेब से पुस्तकों के लिए/चुराये गये सिक्कों में खनकता था/कभी नहानघर के कुएँ में ऊपर तक भर आये पानी की तरह उसे छू सकते थे।<sup>12</sup>

अशोक वाजपेयी ने अपने परिवार के सदस्यों, माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री आदि निबंधों पर अनेक कविताएँ लिखी हैं, इसके अतिरिक्त अपने मित्रों के लिए भी काव्य लेखन किया। इस विषय पर वे स्वयं लिखते हैं- “जैसे पड़ोस वैसे ही परिवार मेरी कविता में केन्द्र स्थानीय है। अगर मुझे परिवार या पड़ोस का कवि कहा जाए तो गलत न होगा। मेरी कविता में परिवार बोलता है बल्कि कई बार बाहर भी परिवार बनकर ही बोल पाता है।”<sup>13</sup>

पारिवारिक सदस्यों में से वाजपेयी जी ने सबसे ज्यादा कविताएँ उन्होंने अपनी माँ पर लिखी हैं। ये अपने पिता से बहुत ज्यादा डरते थे इसी कारण माँ से अधिक लगाव था। माँ की मृत्यु के बाद उसकी स्मृति में बहुत-सी कविताएँ लिखी हैं। अशोक वाजपेयी अपनी माँ को याद करते हुए लिखते हैं-अभी रुकेगा तौंगा और उससे उतरेंगे मेहमान/तुमने अन्दर कहीं न जाने कहाँ उनके लिए चाय चढ़ा दी है।<sup>14</sup>

अशोक वाजपेयी ने अपनी रोजमर्रा की ज़िन्दगी को भी शब्द दिए हैं, उनकी कविताओं में निजी ज़िन्दगी के उतार-चढ़ाव, सुख-दुख, उनके अफसरी जीवन के अनुभव और छवियों, उसके अन्तर्विरोध, उसकी सीमाएँ आदि का वर्णन उनके काव्य में देखा जा सकता है।

प्रेम का खुला ऐन्द्रिक इजहार उनकी कविताओं का एक महत्वपूर्ण सरोकार है। वह प्रेम को उम्मीद का दूसरा नाम तथा जीवन का स्थायी तत्त्व मानते हैं-सब कुछ बीत जाने के बाद/बचा रहेगा/अंत में भी प्रेम।<sup>15</sup>

अशोक वाजपेयी ने प्रेम की, अनुराग की, स्फूर्ति की, उल्लास की दुनिया कविता में रची तो उसके बरक्स जीवन के कठोर अनुभवों का ताप भी महसूस किया-‘प्रेम आसान नहीं/उसमें इतनी निराशाएँ होती रही हैं/फिर भी वही एक उम्मीद है/वही आग है/वही लौ है/वही अर्थ की दहलीज है।’<sup>16</sup>

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अशोक वाजपेयी अपने परिवार के प्रति प्रतिबद्ध कवि हैं उनके काव्य में वैयक्तिकता की स्पष्ट झलक देखी जा सकती है।

इसी तरह सामाजिक अनुभूति से अभिप्राय लौकिक अनुभूति में से है जिनका संबंध सारे समाज से होता है। इसके अन्तर्गत रचनाकार समाज में व्याप्त अच्छाईयों व बुराईयों का

वर्णन अपनी रचना के माध्यम से करता है। जहाँ एक ओर वाजपेयी की कविता उनके निजपन को सहज कर चलती है। वहीं उसमें सामाजिकता भी बराबर बनी रहती है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का चित्रण कवि की रचनाओं में देखा जा सकता है।

सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करने का इनका अलग ढंग है। हमारे जीवन मूल्य कैसे परिवर्तित हो रहे हैं, समाज में एक-दूसरे के साथ संबंध कैसे बदल रहे हैं, सामाजिक व्यवस्था आधुनिकता के प्रभाव से कैसे बदल रही है आदि विषयों पर इन्होंने कविताएँ लिखी।

आज मानव सामाजिक विषमता व तमाम सुख-सुविधाएँ प्राप्त करने पर भी जीवन को भार-सा महसूस कर रहा है। कुछ ऐसी ही समस्याओं को स्वर देने का कार्य अशोक वाजपेयी ने अपनी कविताओं में किया है। वे लिखते हैं-लेकिन सड़क पर मिल गए रविमोहन/जो झुंझलाये हुए थे/अपने ऊपर के पड़ोसी के हर दिन-नीचे पानी फेंकने/और उनकी बालकनी में कुछ न कुछ गीला-गन्दा कर देने से/उन्होंने मुझे समझाया कि/संसार में सभी लोग दूसरों की ज़िन्दगी घर को गन्दा करने में लगे हुए हैं।<sup>17</sup>

अशोक वाजपेयी की कविता गहरे अर्थों में मानवीय है, वह आम आदमी के हक में अपनी आवाज़ बुलंद करते हैं। मनुष्य की हालत, उसकी उलझनों और जीवन का सूक्ष्म वर्णन इनके काव्य में स्पष्ट देखा जा सकता है। मनुष्य की मानसिक स्थिति को इन्होंने अपने काव्य में बड़े ही तर्क के साथ प्रस्तुत किया है-अगर बच सकता/तो वही बचेगा/हम सबने थोड़ा-सा आदमी-/जो रौब के सामने नहीं गिड़गिड़ाता/अपने बच्चे के नम्बर बढ़वाने नहीं जाता मास्टर के घर।<sup>18</sup>

अशोक वाजपेयी ने अपनी कविताओं में आम आदमी की विवशता को चित्रित किया है। जिस परिवार व पड़ोस से उसे सुरक्षा, सहयोग और खुशी मिलती थी। आज इस आधुनिकता की दौड़ ने उन सभी रिश्तों को नष्ट कर दिया है। जिस प्रकार मानव ने विकास की अन्धी दौड़ ने प्रकृति को दूषित किया है उसी तरह सामाजिक संबंध भी दूषित होते चले गये। कवि वाजपेयी जी इस स्थिति पर लिखते हैं-तुमने देखा है सड़ने लगे हैं नगर और फल/और मरे हुए हैं गेहूँ-धानों के खेत और उछाह।/अर्कर गिरती हैं पड़ोस की दीवारें और मित्रताएँ/टूटते हैं दरवाजे और बूढ़े सक्रिय लोग,/पड़ोस एक सड़ांध देता धुंआ है ...।<sup>19</sup>

इस प्रकार इन कविताओं में कवि की युगबद्ध मानसिकता का प्रतिफलन कहा जा सकता है।

इसी प्रकार प्राकृतिक अनुभूति के अन्तर्गत अशोक



वाजपेयी की कविताओं में प्रकृति साधारण से साधारण व्यक्ति का प्रतीक बनकर आई है। प्रकृति किस प्रकार मनुष्य की सहचरी रही है। कैसे प्रकृति रचनाकार को रचना लिखने के लिये प्रेरित करती है, इन सब का वर्णन वाजपेयी जी की कविताओं में देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त प्रकृति के विभिन्न रंग व प्रकृति का रहस्यात्मक रूप इनकी कविताओं का केन्द्र बिन्दु रहा है, वे लिखते हैं-जब सोती हैं वनस्पतियाँ/और देवता/तब पृथ्वी चुपके से/खोलती है अपने मनोरम रहस्यों की तरह कीड़ों को।<sup>10</sup>

मानव जीवन की कटु सच्चाई जन्म और मृत्यु को भी अशोक वाजपेयी ने प्रकृति के सन्दर्भ में व्यक्त किया है। जैसे-ऐसे होगा अन्त/दूब रहेगी वैसी ही हरी/आकाश जैसे ही छाया हुआ नीलाभ/चिड़ियाँ जैसे ही चहकती-फुदकती हुई।<sup>11</sup>

अशोक वाजपेयी की कविताओं में प्रकृति के अभेद्य नियमों को बड़ी ही स्वाभाविक ढंग से व्यक्त किया गया है। निरन्तर बढ़ रहे प्रदूषण से व निरन्तर घट रहे वन क्षेत्र की समस्या पर वे लिखते हैं-लकड़ी में कभी-कभी किसी पेड़ के रोने की/आवाज़ आती है/ऐसा सिर्फ मेरे हाथ ही सुन पाते हैं /और तब मुझे अपने धंधे पर थोड़ा दुःख होता है।<sup>12</sup>

इस प्रकार निष्कर्षतयः कहा जा सकता है कि अशोक वाजपेयी प्रकृति को लेकर काफी सजग हैं।

अशोक वाजपेयी जी की कविताओं से उनकी सोच सबसे अलग ढंग से मुखरित हुई है। इन्होंने ईश्वर को अपनी कविताओं में कोई बड़ा सम्मानजनक स्थान नहीं दिया। एक स्थान पर वे लिखते हैं कि- “मुझे आस्था का वरदान नहीं मिला। मैंने जब-जब पावनता की तलाश की है और ईश्वरहीन अध्यात्म को अपनी दृष्टि के एक उद्गम के रूप में लोकेट करने का यत्न किया है। लेकिन मुझे सबसे अधिक आकर्षित किया है पूर्वजों के तथ्य ने उनके माध्यम से होने वाली निरन्तरता ने।”<sup>13</sup>

अशोक वाजपेयी भारतीय दर्शन से जुड़े हुए उन प्रश्नों से टकराते हैं जो मृत जीवन, पुनर्जन्म, सुख-दुख, प्रेम-वियोग आदि से सम्बन्धित है।

ये देवताओं को नहीं मानते बल्कि अपने पूर्वजों और अपनी संतान में विश्वास रखते हैं। अपनी माँ के भगवान पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं-एक ओले में लटके हैं, तुम्हारे भगवान

/और सामने रामचरित मानस की पुरानी प्रति।<sup>14</sup>

अशोक वाजपेयी पूरी दुनिया को ढोंग-तमाशा मान रहे हैं। धर्म के आधार पर लोगों को लड़ाया जा रहा है, झूठी भक्ति का व्यापार हो रहा है। इस अशांत माहौल में कवि खुद को

उलझा हुआ-सा महसूस कर रहा है-शब्द की नोक पर खतरनाक-सी ठहरी हुई जो है/क्या वही है दुनिया/जिसका मतलब ढूँढे नहीं मिल रहा है।<sup>15</sup>

अशोक वाजपेयी की कविताओं में साधारण मनुष्य की उलझनों, चुनौतियों आदि का चित्रण अपने काव्य में किया है। आज के युग में मनुष्य अपने अस्तित्व को बनाए रहने की लड़ाई लड़ रहा है, अशोक वाजपेयी के शब्दों में-वह आदमी लड़ता है/अपने आदमी बने और बचे रहने की/कहीं भी दर्ज न की जाने वाली/एक पवित्र लड़ाई।<sup>16</sup>

अशोक वाजपेयी ने मृत्यु पर बहुत कुछ लिखा है। डॉ. धर्मवीर के अनुसार “इस पूरी शताब्दी में इस विषय पर सबसे अधिक लिखने वाले ये एक मात्र कवि हैं। किसी भी अन्य कवि ने मृत्यु के बारे में इतनी विविधता से नहीं सोचा जितना इस कवि ने सोचा है।”<sup>17</sup>

वाजपेयी जी के अनुसार मृत्यु जीवन की अटल सच्चाई है, जो इस दुनिया में आया है, उसका यहाँ से जाना निश्चित है, इस सत्य पर कवि लिखते हैं- “सबका आता है अन्त/एक अदृश्य जाल में समेट कर ले जाता है काल सबको।”<sup>18</sup>

इस प्रकार उपर्युक्त सन्दर्भ में दृष्टिपात से ज्ञात होता है कि अशोक वाजपेयी अस्तित्ववादी दर्शन से जुड़े हुए कवि हैं।

आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में वाजपेयी ने अपने काव्य में बड़ा ही सजीव चित्र प्रस्तुत किया है।

अशोक वाजपेयी की कविता में आधुनिकता बोध के विविध स्तर, बाज़ारीकरण, अकेलापन, तनाव, धन की लालसा, संबंधों में बिखराव आदि की स्पष्ट झलक मिलती है। इनकी कविता शहरी जीवन से जुड़ी हुई है। आज शहरीकरण के परिणामस्वरूप दुनिया तीव्र गति से बदल रही है, लोग मकानों को फ्लैट्स में तब्दील कर रहे हैं। कुछ ऐसी ही समस्याओं का जिक्र करते हुए कवि लिखते हैं-“हम अब लौटकर घर नहीं आयेंगे/क्योंकि अब भूगोल से घरों के निशान मिट चुके हैं/सिर्फ शहरों के धब्बे बचे हैं/जिनके एक के बदले दूसरे के बदले तीसरे होने से/कोई खास फर्क नहीं पड़ता।”<sup>19</sup>

इसी शहरीकरण के कारण आज सारी दुनिया एक बाज़ार बन गई है। इस समस्या की ओर पाठक का ध्यानाकर्षित करते हुए कवि लिखते हैं- “यह कैसी सदी है जिसमें/अब हर मुहल्ला बाज़ार है/और हर मकान दुकान।”<sup>20</sup>

अशोक वाजपेयी ने अपने काव्य में आधुनिकता से उत्पन्न विभिन्न समस्याओं का चित्रण किया है। आज संयुक्त परिवारों का विघटन हो रहा है, जहाँ पति-पत्नी दोनों कमाने पर भी खर्च का दबाव है। इस दबाव में उनके बच्चे

पिस रहे हैं वे उन्हें समय नहीं दे पाते, एक छत के नीचे रहने वाला परिवार अजनबियों की तरह जीवन व्यतीत करने पर मजबूर है। इसी माहौल में बुजुर्गों की खुली अवहेलना हो रही है, अपने जीवन के अन्तिम पड़ाव पर बुजुर्ग हताश, निराशा से भरे हुए हैं। अशोक वाजपेयी लिखते हैं-‘बुढ़िया के घर में अन्न न था/न कोई बिछौना/न कोई, किसी के होने की आवाज़/अपनी झोली बगल में रखे हुए/बुढ़िया पसरी रहती है/ओसारे में।’<sup>21</sup>

आज इस आधुनिकता की दौड़ ने मनुष्यों को स्वार्थी बना दिया। उसके पास किसी के लिए समय नहीं, उसके अन्दर से मानवतावादी संवेदनाएं निरन्तर घटती जा रही हैं, कुछ ऐसी ही स्थिति की ओर संकेत करते हुए कवि लिखते हैं-‘एक ऊँची इमारत की पाँचवी मंज़िल की/एक खिड़की से/एक आदमी ने अपने को बाहर फेंक दिया है/पर मैं हूँ/दौड़कर लिफ्ट में चढ़/दफ़्तर तक जाता हूँ/पता लगाने/कि नयी जगह पर नियुक्ति कब होगी।’<sup>22</sup>

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अशोक वाजपेयी की कविताओं में आधुनिकता बोध की मुंह बोली व ज्वलंत विषयों की पूरी स्पष्ट झलक मिलती है।

अशोक वाजपेयी सच्चे अर्थों में कलाप्रेमी हैं और काव्य लेखन भी एक कला के समान है। वाजपेयी जी ने अपने काव्य लेखन में शब्द चयन, बिम्बों, प्रतीकों, चित्रात्मकता, मुहावरों, लोकोक्तियों का प्रयोग ऐसे ढंग से किया कि पाठक का ध्यान सहज ही उनकी रचनाओं की ओर आकर्षित हो जाता है। शब्दों, अक्षरों तथा भाषा के प्रति उनकी आस्था बहुत ही प्रभावशाली ढंग से रही है। भाषा के सम्मान में वे लिखते हैं-‘सिर्फ मेरे हाथ हैं/जो भाषा सँभाले हैं।’<sup>23</sup>

शब्दों के प्रति अशोक वाजपेयी की अटूट आस्था है। इस विषय में अशोक वाजपेयी स्वयं लिखते हैं- ‘शब्द की अक्षरता मेरे लिए बहुत बड़ा भरोसा है। भाषा अगर मनुष्य का सबसे क्रान्तिकारी आविष्कार है। जैसी कि मेरी मान्यता है, तो उसकी कल्पना, साहस, अतिजीविता और अध्यात्म का सबसे ज्वलंत और अमित प्रतीक शब्द है-कविता में मेरा सबसे अधिक भरोसा शब्द पर है।’<sup>24</sup>

अशोक वाजपेयी का मानना है कि इस संसार की सभी वस्तुएं एक दिन नष्ट हो जाएंगी, लेकिन शब्द फिर भी रहेगा-‘न बच्चा रहेगा/न बूढ़ा, न गेंद, न फूल/न दालान, रहेंगे फिर भी शब्द।’<sup>25</sup>

अन्त में कहा जा सकता है कि अशोक वाजपेयी अपने युग में एक सजग रचनाकार हैं। बदलते परिवेश में उन्होंने अपनी कविताओं से परिवार, पड़ोस, प्रेम, अतीत की

अवधारणाओं को नई संज्ञा का अद्भुत कार्य किया है।

अपनी कविताओं में अशोक वाजपेयी ने शब्दों, अक्षरों और भाषा पर इस तरह बात की है कि पाठक भाषा के बदलते स्वरूप से बचें।

निष्कर्षतः अशोक वाजपेयी की कविता अपने समय और समाज के यथार्थ के प्रति सजग एक ऐसी कविता है जिसमें अपने निजी सम्बन्धों के साथ-साथ समाज के यथार्थ को प्रस्तुत किया है। घर-पड़ोस, प्रेम, प्रकृति, मृत्यु, दुनिया, पूर्वज, कला, जन-साधारण, शहरीकरण आदि के इर्द-गिर्द बुनी कविताएँ हिन्दी साहित्य में सोने पे सुहागे का कार्य कर रही हैं।

### सन्दर्भ-

1. हिन्दी आलोचना, बीसवीं शताब्दी, डॉ. रेवती रमण, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 75
2. अशोक वाजपेयी, इबारात से गिरी मात्राएँ, पृ. 35
3. वही, पाव भर में जीरे में ब्रह्मभोज, पृ. 30
4. वही, अनित्यो, पृ. 42
5. वही, कहीं नहीं वही, पृ. 83
6. वही, उम्मीद का दूसरा नाम, पृ. 32
7. वही, कुछ रफू कुछ थिंगड़े, पृ. 14
8. वही, तत्पुरुष, पृ. 31
9. वही, शहर अब भी सम्भावना है, पृ. 75
10. वही, अगर इतने से, पृ. 23
11. वही, पृ. 126
12. वही, समय के पास समय, पृ. 26
13. वही, पाव भर जीरे में ब्रह्मभोज, पृ. 32
14. वही, अनित्यो, पृ. 42
15. वही, समय के पास समय, पृ. 55
16. तत्पुरुष, पृ. 40
17. डॉ. धर्मवीर, अशोक बनाम वाजपेयी : अशोक वाजपेयी, पृ. 37
18. तत्पुरुष, पृ. 40
19. वही, दुख चिट्ठीरसा है, पृ. 71
20. वही, समय के पास समय, पृ. 29
21. वही, कुछ रफू कुछ थिंगड़े, पृ. 8
22. वही, शहर अब भी सम्भावना है, पृ. 128
23. वही, पृ. 23
24. वही, पृ. 45
25. वही, अगर इतने से, पृ. 42

**शोध छात्र, हिन्दी विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक**

## गणित का महत्त्व

### मोनिका अरोड़ा

आज का दौर उपभोक्तावादी संस्कृति का दौर है; जहाँ हम वस्तु हैं या कहें कि वस्तु बन चुके हैं। सब कुछ द्रुत गति से परिवर्तित हो रहा है तो इस सबके बीच एक ऐसा सिद्धांत है जो सदियों से हमारे साथ चलता आ रहा है; उसके बिना सब व्यर्थ है, खड़े पानी जैसा है। बात सिद्धांत की है तो मेरा मानना है कि सृष्टि में विचरित होने वाली प्रत्येक निर्जीव और सजीव वस्तु का अपना एक सिद्धांत है, नियम है, जीवन शैली है फिर चाहे वो मनुष्य हो या जानवर, सभी पर यह बात लागू होती है। कहने का आशय यह है कि इन सबके मूल में एक ऐसा सिद्धांत है; जिसके बिना हम कुछ भी नहीं कर सकते और वो सिद्धांत है गणित। जिसकी महत्ता को हम दरकिनार नहीं कर सकते। किसी विद्वान ने कहा था- “इस ब्रह्माण्ड पर अंक का राज्य है।” गणित की महत्ता के सन्दर्भ में कुलबीर सिंह सिद्धू लिखते हैं- “अंक की पकड़ वस्तुओं, व्यक्तियों तथा घटनाओं के ऊपर इतनी मजबूत है कि हम इसको कुल ब्रह्माण्ड का राजा मानते हैं। सारा ब्रह्माण्ड किसी गणितिक नियम के आधार पर टिका हुआ है। आकाशीय ग्रह अपने-अपने निश्चित मार्ग पर गति कर रहे हैं, एक से दूसरे की दूरी निश्चित है गति निश्चित है, समय निश्चित है तथा आकर्षण शक्ति निश्चित है। इन गिनतियों तथा मानों से उखड़ने से सर्वनाश हो जाएगा। इस ब्रह्माण्ड की रचना तथा इसका अस्तित्व समझने के लिए गणित एक बहुमूल्य विषय है।”<sup>1</sup> ऐसा नहीं है कि गणित और इसकी शिक्षा आज के दौर की है वरन् गणित के पठन और पाठन का सिलसिला उत्तर वैदिक काल (ईसा से 1500 वर्ष पूर्व) से ही होता आया है। इस समय के ग्रन्थों में गणित, अंकगणित, रेखागणित एवं बीजगणित और ज्योतिष गणित दृष्टिगोचर होते हैं। साफ पता चलता है कि गणित का इतिहास प्राचीन समय से ही विकसित और पल्लवित होता आया है। इस बात की पुष्टि महान् पाश्चात्य विचारक प्लेटो के इस कथन से स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने अपनी पाठशाला के द्वार पर यहाँ तक लिखा रखा था कि जो व्यक्ति रेखागणित को नहीं समझते, वे उस पाठशाला में शिक्षा ग्रहण करने के ध्येय से प्रवेश न करें। इससे पता चलता है कि गणित कितना महत्त्वपूर्ण है। गणित मानव विकास का प्रतीक है। नैपोलियन भी गणित की उन्नति के साथ देश की

उन्नति का घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। “गणित को व्यापार का प्राण और विज्ञान को जन्मदाता कहा जाता है। भवन निर्माण और इन्जीनियरिंग का पूरा काम गणित पर ही आधारित होता है। आजकल की सभ्यता की नींव गणित पर ही है।”<sup>2</sup> इतना ही नहीं जैन गणितज्ञ महावीर आचार्य अपनी ‘गणित सार संग्रह’ में गणित की उपयोगिता बताते हुए लिखते हैं- “लौकिक, वैदिक तथा सामाजिक जो-जो व्यापार है, उन सबमें गणित का उपयोग है। काम शास्त्र, अर्थशास्त्र, पाक शास्त्र, गान्धर्वशास्त्र (गायन), नारदशास्त्र, आयुर्वेद, भवन-निर्माण शास्त्र आदि में छन्द, अलंकार, काव्य, तर्क, व्याकरण इत्यादि में तथा कलाओं के समस्त गुणों में गणित अत्यन्त उपयोगी है। सूर्य आदि ग्रहों की गति ज्ञात करने में ग्रहण ज्ञान करने में, दिशा देश, समय ज्ञात करने, चंद्रमा के परिलेख में सर्वत्र गणित का काम पड़ता है। दीपों समुद्रों और पर्वतों की संख्या, व्यास- परिधि, लोक-अन्तर्लोक, ज्योतिषलोक स्वर्ग-नरक के रहने वाले मकानों में, सभा भवनों के परिभ्रमण तथा अन्य बातें गणित की सहायता से ही जानी जाती है। वहाँ पर प्राणियों के संस्थान, उनकी आयु और आठ गुण, मात्रा तथा संहिता आदि से संबंध रखने वाले विषय-सभी गणित पर निर्भर है। अधिक क्या कहें-सचराचर त्रैलोक्य में जो भी वस्तु है, उसका अस्तित्व गणित के बिना सम्भव नहीं हो सकता।”<sup>3</sup> इस विचार से ही यह स्पष्ट हो जाता है हमारे दैनिक जीवन में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से गणित कितना महत्त्वपूर्ण है।

गणित से हमें जहाँ मानसिक और बौद्धिक लाभ पहुँचता है, वहीं दूसरी ओर व्यावहारिक जीवन में भी सहायक होता है। यह हममें तार्किक दृष्टि उत्पन्न करता है। गणित की प्रत्येक समस्या को हल करने हेतु बच्चों को तर्कपूर्ण विचार करना होता है। प्रत्येक पद का सम्बन्ध दूसरे पद से एक निश्चित तर्क पर आधारित होता है जिससे छात्रों में अनेक मानसिक शक्तियों का विकास होता है जिसका प्रभाव उसके बौद्धिक विकास पर पड़ता है।

यदि गणित का विश्लेषण करें तो इसका अन्य विषयों के साथ भी सहसम्बन्ध दिखाई पड़ता है। ज्योतिष और भौतिक विज्ञान में भी गणित का प्रयोग होता है- “जब प्रकाश की किरण (Ray of Light) एक माध्यम (Medium) से दूसरे

माध्यम में तिरची प्रवेश करती है तो वह अपने मार्ग से कुछ विचलित (Refract) हो जाती है। परन्तु यदि माध्यमों के घनत्व और विचलन (Refraction) के सम्बन्ध का, जो कि केवल गणित द्वारा ही जान सकते हैं, ज्ञान न हो तो चश्मे/प्रकाश सम्बन्धी अन्य किसी यन्त्र को नहीं बना सकते हैं।<sup>14</sup>

आज के परिप्रेक्ष्य की बात करें तो लोकतन्त्र में भी गणित की विशेष महत्ता को नकारा नहीं जा सकता है। चुनावों के दिनों में Electrical Voting Machine में गिनती द्वारा ही बड़े-बड़े राजनेताओं की जीत-हार निश्चित होती है। रसायन विज्ञान में भी आंकिक प्रश्नों का हल तो पूरी तरह से गणित पर ही निर्भर है। जीवन विज्ञान में भी जीवन की विभिन्न क्रियाओं का सूक्ष्मतम अध्ययन करने, विश्लेषण करने तथा निष्कर्ष निकालने के लिए गणित के ज्ञान की आवश्यकता होती है। “मानव के शरीर की संरचना, वृद्धि और विभिन्न अंगों में अनुपात एवं सम्बन्ध की जानकारी हेतु गणित का ज्ञान उपयोगी होता है। हमारे शरीर में कितनी हड्डियाँ या अंग हैं। ताप क्रम, रक्तचाप (Blood Pressure), औषधि निर्माण में उचित अनुपात तथा विभिन्न प्रकार के परीक्षण करने में गणित का ज्ञान होना अनिवार्य है। वनस्पति विज्ञान में पादपों की संरचना, प्रकार, जातियाँ तथा उनका विकास में भी गणित का ज्ञान महत्वपूर्ण है।<sup>15</sup> कुल मिलाकर देखें तो जीवन विज्ञान का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं है जिसमें गणित का प्रयोग न होता है।

अर्थशास्त्र में भी गणित की महत्ता को इस प्रकार देखा जा सकता है कि Statistic का प्रयोग अर्थशास्त्र में सर्वाधिक होता है। विशेष रूप से Probability Theory का मूल आधार तो गणित ही है। माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त, द्रव्य-परिमाण का सिद्धान्त, उत्पत्ति नियम, माँग तथा पूर्ति का सिद्धान्त, व्यापार, बैंक सम्बन्धी व्यवस्था आदि गणित की ही देन है।

विविधता की दृष्टि से देखें तो गणित की विषय-वस्तु ही ऐसी है जिसका भूगोल में भी प्रयोग होता है। पैमाने के अनुसार रेखाचित्र बनाना, पहाड़ों, समुद्रों, तालाबों, नदियों की गहराई का पता करना आदि सभी गणितीय ज्ञान पर आधारित है। वाणिज्य में भी जोड़, घटाव, भाग तथा गुणा आदि गणित की आधारभूत संक्रियाओं पर आधारित है। गणित का अपनी विभिन्न शाखाओं अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, सांख्यिकी, त्रिकोणमिति आदि में सह-सम्बन्ध करना भी महत्वपूर्ण है। लाभ-हानि, प्रतिशत, क्षेत्रफल, व्यास जहाँ बीजगणित द्वारा हल होता है। वहीं L.M.C. & G.C.M. को हल करने में अंक

गणित के नियमों का प्रयोग किया जाता है और क्षेत्रफल, आयतन का प्रयोग रेखागणित में होता है।

इस सबके बिना तो मनोविज्ञान में भी गणित का प्रयोग किए बिना काम नहीं चल सकता। हर्बर्ट ने आज से 100 वर्ष पूर्व कहा था कि मनोविज्ञान के लिए गणित का उपयोग अति आवश्यक है क्योंकि इसके बिना मनोविज्ञान के मुख्य उद्देश्य ‘Conviction’ की पूर्ति नहीं हो सकती। अब प्रयोगात्मक मनोविज्ञान (Experimental Psychology) में बुद्धि लब्धि (Intelligence Quotient), Tetred Equation Co-efficient of correlation तो गणित द्वारा ही ज्ञात होते हैं।<sup>16</sup> इन सब बातों से पता चलता है कि गणित केवल गणित विषय तक ही नहीं है वरन् समस्त विषयों के साथ इसका अन्तर्संबंध है।

आज गणित में प्रयोगशालाओं का प्रचलन बड़ी तेज़ी से हो रहा है। शिकागो विश्वविद्यालय के प्रो. ई. एच. मूरे ने अपने वक्तव्य में कहा था- “छात्रों के अवलोकन शक्ति, प्रयोग एवं अभिव्यक्ति तथा निगमन शक्ति में प्रशिक्षित करना तब तक असंभव होगा जब तक कि गणित को सीधे ठोस स्वरूप से न जोड़ा जाये तथा सुधार के इस कार्य को गणित व भौतिकी में सम्पूर्ण रूप से अनुदेशन की प्रयोगशाला विधि का विकास कहा जाता है।<sup>17</sup>”

गणित के पठन-पाठन का क्रम, प्राचीन ज्ञान से होते हुए आधुनिक तक बहुआयामी रूप तो ले चुका है। जिसका प्रत्येक विषय के साथ सहसम्बन्ध है, साथ ही समूची मानवता का मूल आधार भी है। आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त, भास्कर, रामानुजम, यूक्लिड, पाईथागोरस, गॉस जैसे विद्वानों ने गणित को नई स्थापना प्रदान की है। अतः गणित केवल भारत की नहीं वरन् विश्व का एक इकाई के रूप में बांधता है और यह गणित द्वारा ही संभव हो पाया है।

#### सन्दर्भ-

1. कुलबीर सिंह सिद्ध, गणित शिक्षण-इन्टरनेशनल प्रकाशन, जालन्धर, द्वितीय संस्करण 1983, पृ. 3
2. एम. एस. रावत, गणित शिक्षण, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1970, पृ. 5
3. वही, पृ. 6
4. वही, पृ. 7
5. डॉ. अरुण कुमार कुलश्रेष्ठ, गणित शिक्षण, सूर्य पब्लिकेशन, मेरठ-प्रथम संस्करण 1988, पृ. 289
6. एम.एस. रावत, गणित शिक्षण, पृ. 7
7. ए. के. कुलश्रेष्ठ, गणित शिक्षण, पृ. 307

**सहायक प्राध्यापिका, गणित विभाग, सतीश चन्द्र धवन, राजकीय महाविद्यालय, लुधियाना**

## वैश्विक परिदृश्य में हिन्दी की अस्मिता

### इन्द्रजीत पासवान

किसी भी विचारधारा का साँगोपाँग विवेचन करना हो तो सर्वप्रथम हम उस विचारधारा के मूल उद्गम स्रोत को जानने की कोशिश करते हैं, उस बिन्दु के केन्द्र तक पहुँचते हैं जहाँ से इसका बीजारोपण हुआ है। उसके साथ-साथ उस समय के परिदृश्य की भी जाँच होती है जिसके एवज़ में ये बिन्दु पनप उठे हैं। शनैः-शनैः उस बिन्दु रूपी बीज के रोपण के पश्चात् विशाल पौधा बनने तक की प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन कर मूल तक पहुँचा जाता है। बात यदि भाषा के एवज़ में की जाए और वो भी विशेष रूप से हिन्दी की तो इस सन्दर्भ में बात करना और भी अनिवार्य हो जाता है।

ये सभी जानते हैं कि भाषा ही अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम होती है। इस भाषा को कालान्तर से अनेक आन्दोलनों, संघर्षों और परिवर्तनों से होकर गुज़रना पड़ा है। हिन्दी भी इससे अछूती नहीं है। डॉ. प्रभा दीक्षित कहती हैं “प्रत्येक भाषा केवल अभिव्यक्ति मात्र न होकर अपने देश व काल की संस्कृति की आत्मा होती है। इतिहास के पृष्ठों पर सत्य का उत्स एवं साहित्य में अनुभव जनित निरन्तरता के प्रतीकों, मिथकों की अनुकरणीय शृंखला होती है। आज भूमण्डलीकरण के दौर में जब भाषायी महत्त्व को बाज़ार से जोड़ कर देखने की प्रक्रिया प्रारंभ हो चुकी है। विश्व की पराजित भाषाएं अपनी-अपनी देसी अस्मिता बनाए रखने हेतु संघर्ष करती दिखाई दे रही हैं। इस संघर्ष की छटपटाहट को दक्षिण अफ्रीकी लेखकों की भाषाई बेचैनी में स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है।” स्पष्ट है कि भाषा के प्रति जुड़ाव आत्मीयता का, सांस्कृतिक अस्मिता का द्योतक होता है। इसी से प्रत्येक देश की अपनी पहचान निर्धारित होती है।

यहाँ एक बात गौर करने की है कि कोई भी भाषा चाहे वो किसी भी देश की हो वह बड़े संवर्ग की भाषा कैसे बनती है और क्यों? इसका सीधा-सा जवाब है कि भाषा की सहजता। भाषा का सहज होना ही उसकी लोकप्रियता को सिद्ध करता है। हिन्दी आज इसीलिए बाज़ारवाद का अंग बनकर खड़ी है कि इसने स्वयं को ढाल लिया है- “हिन्दी उपभोक्ता समाज की भाषा है। यहाँ 60 करोड़ शिक्षित लोगों

में केवल 3 करोड़ लोग अंग्रेज़ी जानते हैं। ऐसी स्थिति में उपभोक्ताओं से संपर्क के लिए हिन्दी जानना अनिवार्य है।”<sup>2</sup> हिन्दी भाषा बाज़ारवाद का अंग इसलिए बनकर उभरी है क्योंकि इसमें इसकी सहजता है। आज वैश्विक पटल में देखें तो पाते हैं कि चीनी और अंग्रेज़ी भाषा के बाद हिन्दी तीसरे पायदान पर विराजित है। यह हमारे लिए गर्व की बात है। एस. कार्लोस का कथन है- “भारतीय भाषाएं सामाजिक सम्बन्धों की सेतु है। इनका विकास हमारे काव्य, दर्शन, साहित्य, रीति-रिवाज़ों और जीवन-पद्धति का इतिहास है।”<sup>3</sup> यही कारण है कि पूरे भारत में ही नहीं वरन् दूर विदेशों में रह रहे भारतीय, अभारतीय लोगों के बीच में भी यह संपर्क भाषा का काम कर रही है। दूसरे शब्दों में कहें तो आज जो हिन्दी का भाषायी परिवर्तन रूप सामने आ रहा है वो “हिंगलिश” रूप में है। जनभाषायी रूप से लेकर हिंगलिश भाषा के स्तर तक हिन्दी ने जो सफ़र तय किया है वह केवल और केवल उसकी अपना सहजता बोधगम्यता के कारण ही हो पाया है।

वैसे देखा जाए तो हिन्दी के विस्तार में बाज़ारवाद की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। डॉ. नौटियाल ने लिखा है, “आज हमें भाषा को भी बाज़ार की ताकतों से जोड़ना होगा। जब सारा विश्व ही ‘बाज़ार’ के रूप में बदल गया हो तो भाषा को भी बाज़ार की वस्तु बनाना ही होगा। वैसे सच्चाई तो यह है कि भाषा का अस्तित्व ही इस बात पर निर्भर होता है कि वह जनमानस व बाज़ार में अपनी पैठ बना चुकी है या नहीं। जो भाषा जनता और बाज़ार में जितनी तेज़ी से अपनी पैठ बना लेती है। उसका भविष्य उतना ही उज्ज्वल होता है। आज अमेरिका के राष्ट्रपति को भी कहना पड़ रहा है कि है अमेरिकियों, हिन्दी सीखो। हिन्दी भारत की नहीं बल्कि विश्व की प्रथम भाषा है।”<sup>4</sup>

ख़ैर ये तो है हिन्दी भाषा का एक रूप। अब इसके दूसरे रूप की चर्चा करते हैं और वो है हिन्दी भाषा का प्रयोगात्मक रूप। इसके अन्तर्गत विज्ञान, प्रशासन, सूचना प्रौद्योगिकी, व्यवसाय, वाणिज्य, इंटरनेट, विज्ञापन, अनुवाद कला, प्रिंट मीडिया, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया आदि संसाधनों में



भी हिन्दी की पैठ हो चुकी है या कहें कि अपनी छाप बनाए हुए हैं। कम्प्यूटर आज हमारे जीवन का महत्वपूर्ण अंग बन चुका है। भाषा के सन्दर्भ में भी इसकी उपयोगिता को कमतर नहीं समझा जा सकता क्योंकि UNICODE (यूनिकोड) के ज़रिए हिन्दी में कम्प्यूटर पर काम करना और भी आसान हो गया है। इसकी वजह से ही न जाने कितने ब्लॉग, सोशल साइटें हैं जो यूनिकोड हिन्दी में हैं और ये साइटें यूनिकोड के माध्यम से हिन्दी को सजाने और सँवारने के काम में लगी हुई है। अब यह स्थिति है कि कम्प्यूटर पर हिन्दी में काम करने के लिए यह ज़रूरी नहीं है कि आपको हिन्दी टाइपिंग का ज्ञान हो।

तकनीकी दृष्टि से देखें तो इंटरनेट के अन्तर्राष्ट्रीय संजाल के सूचनाओं के विश्वव्यापी आदान-प्रदान को अपने तंत्र जाल में बाँध लिया है। यूनेस्को के अनुसार, “अभी इंटरनेट पर हिन्दी की स्थिति शैशवावस्था में है। परन्तु वह दिन दूर नहीं जब यह शिशु खड़ा होने लगेगा तथा फिर चलने और दौड़ने लगेगा। इस शिशु की अपार संभावनाओं, क्षमताओं तथा उज्ज्वल भविष्य को पहचान कर ही देशी-विदेशी कम्पनियों, वैज्ञानिक व विज्ञान इसकी ओर आकृष्ट हो रहे हैं। वेबसाइट में भी भाषा की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। आज कल वेबसाइट की सामग्री जिसे तकनीकी स्तर पर कंटेंट कहा

जाता है, उसे लिखने वाले को कंटेंट राइटर कहा जाता है। अब यह प्रतिष्ठित व्यवसाय के रूप में इसको मान्यता प्राप्त हो चुकी है। इसके बाद अन्य भाषा में कंटेंट लिखना होता है तब अनुवाद का स्थान आता है। अनुवाद के सन्दर्भ में यह कथन बिल्कुल सटीक जान पड़ता है कि “There is no globalization without Translation” अनुवाद के माध्यम से ही हिन्दी भाषा ने विभिन्न देशों के साहित्य को एक सेतु के रूप में बाँधा हुआ है।

अतः भारत ही एकमात्र ऐसा देश है, जहाँ भाषिक विविधता की भरमार है। यह विविधता देश की विविधता है। हिन्दी की स्थापना की कोई एक वजह या कोई एक मूल बिंदु निश्चित करना बहुत कठिन है। स्थापना की दृष्टि से कई कारणों से आज तक हिन्दी की स्थापना में लाभ हुआ है, जिन्हें हम विशेष महत्वपूर्ण मान सकते हैं।

#### संदर्भ-

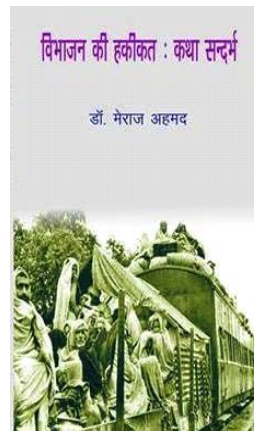
1. (सं.) आनंद पाटिल, हिन्दी विविध आयाम, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012, पृ. 143
2. वही, पृ. 144
3. वही, पृ. 149
4. त्रिधारा, अंक-9, जनवरी 2008

**सहायक प्राध्यापक हिन्दी विभाग, सेंट सोल्जर कॉलेज,  
फगवाड़ा (कपूरथला) चंडीगढ़-160014**

#### विभाजन की हकीकत : कथा संदर्भ

भारतीय उपमहाद्वीप में पनपी सांप्रदायिकता तथा भारत विभाजन के मध्य गहरा अंतसंबंध है। विभाजन के मूल्य पर मिली आजादी के साथ हिंसा तो समाप्त हो गई, परन्तु जो सांप्रदायिक वैमनस्य विस्तार पाकर इतनी बड़ी मानवी त्रासदी का वाहक बना, उसके गुज़र जाने के बाद न केवल जनमानस की चेतना में विद्यमान रहा, अपितु उसने तमाम ऐसी गंभीर समस्याओं को जन्म दिया जो आज भी भारतीय जनमानस को अपने पाश से मुक्त नहीं होने दे रहा है। सांप्रदायिकताजन्य चेतना नित नये-नये रूप धारण करके समस्या को गंभीर बनाते हुए भारतीय सामाजिक संस्कृति पर प्रहार करती रहती है। मूल्य

350  
**वाइमय बुक्स, अलीगढ़ 9044918670**



## अस्तित्ववाद के संदर्भ में 'अंधा युग'

### अंकित

मनुष्य सृष्टि का अभिन्न अंग है। सृष्टि के समस्त कालचक्र को मनुष्य अपने चिंतन, सृजन, विश्लेषण, विवेचन व मूल्यांकन से प्रभावित करता है। कभी मनुष्य अपनी अस्मिता के बचाव तो कभी उसके निर्माण से प्रभावित हो, विभिन्न अवधारणाओं का उन्नयन करता रहा है। इन अवधारणाओं में कुछ युग विशेष को प्रभावित कर क्षीण हो जाती हैं और कुछ कालातीत रूप प्राप्त करती हैं। इन्हीं विभिन्न अवधारणाओं में व्यक्ति की अस्मिता, अस्तित्व व महत्ता को उद्घाटित व स्थापित करने वाली मान्यता के रूप में अस्तित्ववाद का उदय हुआ।

इस समय धर्मांध कैथोलिकों का वर्चस्व, फ्रांस की राज्यक्रान्ति, दो विश्वयुद्धों की विभीषिका, मशीनीकरण का बढ़ता प्रयोग व विभिन्न पूर्व प्रचलित लगभग सभी दार्शनिक मान्यताओं का व्यक्ति के महत्त्व को अस्वीकार आदि अनेक कारणों ने ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की कि व्यक्ति के अस्तित्व का विषय प्रमुखता से उभरकर सामने आया। ऐसे समय में नीत्शे की उद्घोषणा कि, “ईश्वर मर गया। हम लोगों ने उसे मार डाला है। ईश्वर के न रहने पर सारी जिम्मेदारी अब मनुष्य के कंधे पर आ गयी है। अब मनुष्य ही नियामक एवं विधाता है।” व्यक्ति के विषय में सोचने के लिए अवसर प्रदान किया, और इन्हीं परिस्थितियों में अस्तित्ववाद का जन्म हुआ।

### ‘अस्तित्ववाद’ शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

अस्तित्ववाद मूलतः दो शब्दों अस्तित्व+वाद से मिलकर बना है। इनमें अस्तित्व शब्द की उत्पत्ति “अस्ति+त्वत् से हुई है। जिसका अर्थ है- है का भाव या विद्यमानता।”<sup>2</sup> वाद शब्द से तात्पर्य बहुतायत में प्रचलित किसी भी मत से लिया जाता है। इस प्रकार मनुष्य के ‘है’ के भाव का बोध ही अस्तित्ववाद है। अंग्रेजी भाषा में इसके लिए EXISTENTIALISM शब्द का प्रयोग किया जाता है जो EXISTENCE से निर्मित हुआ है। जर्मन में इसके लिए दासाइन (DESCIN) शब्द का प्रयोग किया जाता है। विभिन्न शब्दकोशों के अवलोकनोपरांत यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति की अस्मिता के विषय में विचार

करने वाला सिद्धांत ही अस्तित्ववाद है।

### अस्तित्ववाद से अभिप्राय

अस्तित्ववाद सामान्यतः एक ऐसा दार्शनिक मत है जो व्यक्ति की निजता को महत्त्व देते हुए उसे स्वयं के विषय में सोचने के लिए प्रेरित करता है। इस विचारधारा के उदय का सूत्र वाक्य है “अस्तित्व तत्त्व का पूर्वगामी है। अतः कहा जा सकता है कि अस्तित्व पहले आता है और मूल प्रवृत्तियाँ बाद में।”<sup>3</sup> इसके विषय में विभिन्न विद्वानों ने अनेक मत दिए हैं-

मैनियर के अनुसार- “अस्तित्ववाद विचारों के दर्शन एवं वस्तु के दर्शन की अति के विरुद्ध मनुष्य के दर्शन की प्रतिक्रिया है।”<sup>4</sup>

कीर्कगार्ड इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- “अस्तित्व शब्द का उपयोग इस दावे पर जोर देने के लिए किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति इकाई अपने में स्वयं जैसी (UNIQUE) है और आध्यात्मिक या वैज्ञानिक प्रक्रिया के संदर्भ में अविश्लेषणीय है। यह वह अस्तित्वमय है, जो स्वयं चुनाव करता है एवं स्वयं चिंतन करता है, यह कि वह स्वतन्त्र है और चूंकि वह स्वतन्त्र है इसलिए सहन करता है, यह कि उसका भविष्य कुछ अंशों में उसके स्वतन्त्र चुनाव पर निर्भर है, अतः उस संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।”<sup>5</sup>

इन्सायक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटानिका में इसके विषय में लिखा गया है कि- “अस्तित्ववाद बड़े तौर पर भीतर से सुसंगत है जो अनेक कारणों से अन्य ज्ञान पद्धतियों को नकार देता है और मनुष्य के आन्तरिक ज्ञान को स्वीकार करता है।”<sup>6</sup>

रामविलास शर्मा अस्तित्ववाद के विषय में लिखते हैं- “अजनबीपन, अकेलेपन और प्रेम की निस्सारता के दर्शन का स्रोत यही है।”<sup>7</sup>

उपर्युक्त विभिन्न विद्वानों की मान्यताओं के अध्ययन से स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि अस्तित्ववाद वह दार्शनिक सिद्धांत हो जो व्यक्ति की सत्ता, स्वतन्त्रता, महत्ता और सर्वप्रमुखता को सर्वाधिक महत्त्व देता है।

## अस्तित्ववाद के भेद

अस्तित्ववाद में अपनी अस्मिता और सत्ता के प्रश्न को लेकर धार्मिक व ईश्वरीय मान्यताओं के संदर्भ में दो भेद हो गए थे- एक आस्थावादी और दूसरा अनास्थावादी।

## विभिन्न अस्तित्ववादी मान्यताएं व अंधा युग

विभिन्न वस्तुवादी दर्शनों के बीच जब व्यक्ति के आत्मगत चिंतन का महत्त्व बढ़ा तो उसका आन्दोलन अस्तित्ववाद के रूप में सामने आया। व्यक्ति की स्वतन्त्रता, सत्ता, मौजूदगी व महत्ता के विषय को स्पष्ट करते हुए अस्तित्ववाद की अनेक मान्यताएँ उभरकर सामने आती हैं। धर्मवीर भारती अपनी आलोच्य रचना के आभार लेख में ही लिखते हैं- “कुण्डा, निराशा, रक्तपात, प्रतिशोध/विकृति, कुरूपता, अन्धापन इनसे हिचकिचाना/क्या इन्हीं में तो सत्य के दुर्लभ कण छिपे हुये/हैं तो इनमें क्यों न निडर धँसू! इनमें धँस कर/भी मैं मर....”<sup>8</sup>

धर्मवीर भारती ने आलोच्य रचना के अन्तर्गत महाभारतकालीन कौरव पाण्डव युद्ध को आधार बनाकर विभिन्न परिस्थितियों के बीच मानवीय अस्मिता के विषय को उजागर किया है।

यहाँ उन विभिन्न अस्तित्ववादी मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में धर्मवीर भारती की कालजयी कृति ‘अंधा युग’ को विश्लेषित किया जाएगा जो व्यक्ति को जीवन का विशिष्ट दर्शन प्रस्तुत करती है।

## व्यक्ति को महत्त्व

अस्तित्ववाद की प्रथम अवधारणा है व्यक्ति को महत्त्व देना। अस्तित्ववादी वस्तु जगत् की अन्य वस्तुओं की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं, क्योंकि वस्तु जगत् का सार व्यक्ति के अस्तित्व की प्रक्रिया के बाद प्रारम्भ होता है। जैस्पर्स व्यक्ति की महत्त्व पूर्णता को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं - “एक व्यक्ति के रिक्त स्थान की पूर्ति दूसरा व्यक्ति नहीं कर सकता। एक व्यक्ति का स्थान दूसरा व्यक्ति ले ही नहीं सकता।”<sup>9</sup> व्यक्ति को अन्य वस्तुओं से महत्त्वपूर्ण मानते हुए हेडगर लिखते हैं कि-The being whose manner of being is existence is man. Man alone exist. A rock is, but it does not exist. A tree is, but it does not exist. A horse is, but does not exist. An angel is, but he does not exist. God is, but he does not exist. The sentence, "Man alone exist", in no way means that only man really is and that all other being are unreal or illusions or idea of man.<sup>10</sup> व्यक्ति की सत्ता अस्तित्ववादियों

के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण विषय है। व्यक्ति के अहं भाव को विश्लेषित करते हुए कीर्केगार्द एक स्थान पर लिखते हैं- “किसी व्यक्ति के अस्तित्व की सत्ता अथवा सत्यता उस व्यक्ति विशेष के आभ्यान्तर से ही अग्रसर होती है। पूर्वनिर्धारित ज्ञान और सामान्य सामाजिक सिद्धांत जीवन के प्रमुख आयामों के सन्दर्भ में निरर्थक हैं। आत्मचिन्तन ही जीवन का सत्य है तथा एकमात्र वैयक्तिकता ही वास्तविक महत्त्व का केन्द्र-बिन्दु है। चाहे व्यक्ति हर्षोल्लास की स्थिति में हो अथवा उद्वेग या चिन्ता से ग्रस्त हो, व्यक्ति का अहं ही उसके जीवन को गतिमान करता है।”<sup>11</sup> व्यक्ति की स्वतन्त्रता संबंधी अस्तित्ववादी मान्यता को स्पष्ट करते हुए देवेन्द्र इस्सर लिखते हैं-“कोई ईश्वर नहीं, कोई आदिम पाप नहीं। कोई पाप नहीं। कोई वातावरण नहीं। कोई नस्ल नहीं। कोई जाति नहीं। कोई पिता नहीं, कोई माता नहीं। कोई गलत शिक्षा नहीं। कोई गवर्नेस नहीं, कोई शिक्षक नहीं। यहाँ तक कि कोई प्रवृत्ति, रूझान या ग्रन्थ भी नहीं। बचपन का प्रशिक्षण नहीं- मनुष्य स्वतन्त्र है।”<sup>12</sup> व्यक्ति के विषय में अस्तित्ववादी स्वीकारते हैं कि आदमी वह शक्ति है जो अन्य वस्तुओं के महत्त्व को उद्घाटित करती है। आदमी व पशु समान नहीं है, क्योंकि पशु का अस्तित्व आदमी के कारण है। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए एक जगह अश्वत्थामा कहता है-“धर्मराज होकर वे बोले/‘नर’ या ‘कुंजर’/मानव को पशु से/उन्होंने पृथक् नहीं किया।”<sup>13</sup> उपर्युक्त पंक्ति के आधार पर कह सकते हैं कि अंधा युग में व्यक्ति के महत्त्व को स्पष्ट रूप से उजागर किया गया है।

## अस्तित्वबोध

अस्तित्ववादी दार्शनिक वस्तु जगत् के बोध से पूर्व व्यक्ति के आत्मबोध को विशिष्ट महत्त्व देते हैं। इन दार्शनिकों की मान्यता है कि जब तक व्यक्ति अपने अस्तित्व की जिम्मेदारी स्वयं पर स्वीकार नहीं करेगा तब तक वह अपने इच्छित लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। अस्तित्वबोध को अन्य वस्तुओं के बोध से पूर्व स्वीकारते हुए कीर्केगार्द लिखते हैं-“हम सर्वप्रथम अपने अस्तित्व का अनुभव करते हैं। अन्य व्यक्तियों और वस्तुओं के अस्तित्व का बोध भी पहले होता है, उसके पश्चात् ही मनुष्य उनके सार का शोध करता है। सार भी चाहे पहले से ही उपस्थित हो, किन्तु मनुष्य का मन ही उसकी खोज करता है। यह खोज अस्तित्व के अनुभव के बाद ही होती है। इसलिए सार की अपेक्षा अस्तित्व को प्रधानता देना समीचीन है।”<sup>14</sup> अर्थात् व्यक्ति पहले है और अन्य वस्तुएँ बाद में। अस्तित्ववादियों की मान्यता है कि व्यक्ति को अपना संज्ञान होना अति आवश्यक है। हेडगर इस विषय को स्पष्ट

करते हुए लिखते हैं -“केवल ऐसे व्यक्ति का ही अस्तित्व है जो संकल्प और क्रिया की स्वतन्त्रता के लिए हर कीमत देने के लिए तैयार है। शेष सब अ-मनुष्य हैं। उनका कोई अस्तित्व नहीं। यही अस्तित्व की शर्त है। अस्तित्व के बगैर कोई तत्त्व नहीं। इसलिए पहले से निश्चित कोई आदर्श या मूल्य या कोई बाह्य शक्ति मनुष्य के अस्तित्व का निर्माण नहीं करती।”<sup>15</sup> वही व्यक्ति अस्तित्वमय है जिसे आत्मबोध है। विवेच्य रचना में अस्तित्व- बोध से अवगत हो युयुत्सु कहता है-“मैं हूँ युयुत्सु/मैं उस पहिये की तरह हूँ/जो पूरे युद्ध के दौरान में रथ में लगा रहा/पर जिसे अब लगता है कि वह गलत धुरी में लगा था/और मैं अपनी उस धुरी से उतर गया हूँ।”<sup>16</sup>

युयुत्सु का यह कथन उसके अस्तित्वबोध को स्वतः ही स्पष्ट कर देता है। इसके अतिरिक्त भी इस रचना के अन्तर्गत अनेक जगह पात्रों को अपने अस्तित्व के प्रति सचेत देखा जा सकता है। एक स्थान पर प्रहरियों के मध्य के संवाद के रूप में अभिव्यक्त करते हुए लिखते हैं-“प्रहरी पर यह जो हम दोनों का जीवन/सुने गलियारे में बीत गया/प्रहरी कौन इसे/अपने जिम्मे लेगा?”<sup>17</sup>

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अस्तित्ववाद की अस्तित्वबोध संबंधी मान्यता अंधा युग में प्रमुख रूप से उजागर हुई है।

### व्यक्ति स्वयं के लिए खुद जिम्मेदार है

अस्तित्ववादी विचारक यह स्वीकारते हैं कि मनुष्य अपने भविष्य का स्वयं कृता है। वह अपने चुनाव व परिश्रम द्वारा जैसा बनना चाहे वैसा बन सकता है। परिस्थितियों का प्रभाव मानव पर स्वीकार्य है पर उनके प्रति भाव विशेष अपनाने में वह पूर्णतः स्वतन्त्र है। इस चयन स्वातन्त्र में ही मानव का अस्तित्व निहित है। आदर्श व्यवस्था में परिवर्तन की सम्भावना न होने से वह स्थिति शील है, परन्तु अस्तित्वशील मानव अपने होने या बनने के संबंध में स्वयं निर्णय करने के कारण गतिशील या प्रगतिशील है।<sup>18</sup> अस्तित्ववादी इस विषय को पूर्णतः नकारते हैं कि मनुष्य परिस्थितियों का गुलाम है या परिस्थितियाँ उसके अस्तित्व का निर्माण करती है। सार्त्र इसी विषय को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं-“सबसे पहले मनुष्य है और अपना सामना करता है, जगत् में तरंगित होता रहता है, अपनी परिभाषा वह बाद में करता है। मानव वही है जो स्वयं को बनाता है। ऐसा कोई ईश्वर नहीं जो मानव को धारण करता है, ठीक उसी तरह जैसे कलाकार अपनी कृति को धारण करता है। मानव वही है जो जीवन में आने के बाद

बनना चाहता है।”<sup>19</sup> अर्थात् अस्तित्ववादी दार्शनिक यह मानते हैं कि मानव की नियति मानव के कर्म व उसके द्वारा लिए गए निर्णय पर निर्भर करती है न की किसी भी परिस्थिति पर। अस्तित्ववादी ऐसे कर्म पथ पर मनुष्य के विरोध को भी सहज सम्भावी ही स्वीकारते हैं। धर्मवीर भारती की रचना अंधा युग में भी व्यक्ति को स्वयं के लिए जिम्मेदार ठहराया गया। एक स्थान पर विदुर युयुत्सु को कहता है -“अज्ञानी, भय डूबे, साधारण लोगों से/यह तो मिलता ही है सदा उन्हें/जो कि एक निश्चित परिपाटी/से होकर पृथक्/अपना पथ अपने आप/निर्धारित करते हैं।”<sup>20</sup>

अस्तित्ववादियों की यह मान्यता कि मानव जब अपने अस्तित्व की जिम्मेदारी स्वयं अपने कंधों पर ठान लेता है तो समाज के निश्चित नियमों से पृथक् नए नियमों का सृजन करता है जो उसके कर्म पथ पर उसकी सफलता को निर्धारित करते हैं। आलोच्य रचना में एक अन्य स्थान पर भी व्यक्ति को स्वयं के लिए खुद जिम्मेदार माना गया है। युयुत्सु अपने कर्म की जिम्मेदारी स्वयं पर निर्धारित करता हुआ कहता है-मैं ही अपराधी हूँ/था यह एक अश्वारोही कौरव सेना का/मेरे अग्निबाणों से/झुलस गए थे घुटने इसके/नष्ट किया है खुद मैंने/जिसका जीवन/वह कैसे अब/मेरी ही करुणा स्वीकार करे/मेरी यह परिणति है/स्नेह भी अगर में दूँ/तो वह स्वीकार नहीं औरों को।”<sup>21</sup>

उपर्युक्त विभिन्न मान्यताओं और उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अंधा युग में व्यक्ति की जिम्मेदारी को व्यक्ति पर निश्चित किया गया है।

### धर्म और अध्यात्म संबंधी मान्यताएँ

धर्म और आध्यात्मिक मान्यताओं को लेकर अस्तित्ववाद के दो भाग हो जाते हैं। जैसे-जैसे अस्तित्ववाद का विकास होता जाता है वैसे-वैसे इसमें अनास्थावादी दृष्टिकोण का वर्चस्व बढ़ता जाता है। धर्म व ईश्वर के अस्तित्व को नकारते हुए नीत्शे कहते हैं-“मैं उस ईश्वर में विश्वास कर सकता हूँ जो (मेरे साथ) नृत्य कर सके।”<sup>22</sup> अर्थात् नीत्शे ईश्वर के अस्तित्व को मानव द्वारा सृजित स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत मार्सेल जैसे विद्वान ईश्वर और मनुष्य के अस्तित्व का तादात्म्य व एकीकृत स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कहते हैं-“परम तत्त्व अथवा ईश्वर मानव जीवन तथा संसार के सभी पहलुओं के माध्यम से अपने को व्यक्त करता है। मानव को विश्व की आध्यात्मिक संरचना को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए और उसे सतत् यह प्रयत्न करना चाहिए कि उसका किस तरह से शीघ्रातिशीघ्र ईश्वर के साथ मिलन हो सकता

है। ईश्वर सभी मनुष्यों के पिता हैं। व्यक्तित्व का स्वरूप अद्वितीय होने पर भी उसका अस्तित्व ही ईश्वर के साथ मिलन के लिए है।<sup>23</sup> इस प्रकार अस्तित्ववाद में ईश्वर के विषय को लेकर काफी विभिन्नताएँ हैं, परन्तु प्रभाव अनास्थावाद का ही रहा है। धर्मवीर भारती की रचना अंधा युग चूँकि पौराणिक एवं मिथकीय कथा पर आधारित है इसलिए इसमें भी धर्म पर एक विशद विश्लेषण उभरकर सामने आता है। रचना का समग्र अध्ययन के बाद यह कहा जा सकता है कि इसमें भी अस्तित्ववाद की भाँति अनास्था का ही प्रभाव अधिक है। नीत्शे की भाँति विदुर भी ईश्वर-मृत्यु संबंधी घोषणा करता हुआ कहता है-“अब मेरा स्वर संशयग्रस्त है/क्योंकि लगता है कि मेरे प्रभु/उस निकम्मी धुरी की तरह हैं/जिसके सारे पहिये उतर गए हैं/और जो खुद घूम नहीं सकती।”<sup>24</sup>

विदुर का यह कथन ईश्वरीय अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगा देता है। इसके अतिरिक्त गांधारी धृतराष्ट्र को धर्म के विषय में कहती है-“मैंने यह बाहर का वस्तु जगत अच्छी तरह जाना था/धर्म, नीति, मर्यादा, यह सब हैं केवल आडम्बर मात्र/मैंने यह बार-बार देखा था।”<sup>25</sup>

अतः इस प्रकार के अनेक उदाहरण इस विषय को स्पष्ट कर देते हैं कि अस्तित्ववाद के अनास्थावादी दृष्टिकोण का अत्यधिक प्रभाव इस रचना में प्रकट हुआ है।

### क्षण की महत्ता

अस्तित्ववाद में क्षण को विशेष महत्त्व दिया गया है। इसमें व्यक्ति को क्षण में जीने वाले प्राणी के रूप में चित्रित किया गया है और यह स्वीकार गया है कि व्यक्ति द्वारा प्रत्येक क्षण लिया गया निर्णय उसके भविष्य को निर्धारित करता है। अस्तित्ववादी स्वीकारते हैं कि व्यक्ति क्षण विशेष में भी अपनी योजनाओं को बदल सकता है। सार्त्र इस विषय में लिखते हैं -“व्यक्ति अपनी मौलिक योजना किसी भी समय बदल सकता है। जब किसी नई योजना का सामना हो जो अतीत से कटकर वर्तमान की पूरी निष्पत्ति का दावा कर रहा हो, तब ऐसा होता है।”<sup>26</sup> अस्तित्ववादी दार्शनिक मानते हैं कि व्यक्ति प्रत्येक क्षण निर्णय लेता है और अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर बढ़ता है। धर्मवीर भारती विवेचित रचना में वृद्ध याचक के माध्यम से इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं-“मैंने बतलाया था/उसको झूठा भविष्य/अब जाकर उसको बतलाऊँगा/वर्तमान से स्वतन्त्र कोई भविष्य नहीं/अब भी समय है दुर्योधन/समय अब भी है/हर क्षण इतिहास बदलने का क्षण होता है।”<sup>27</sup> अर्थात् मनुष्य अपने निर्णय द्वारा किसी भी क्षण अपने भविष्य

को सुन्दर बना सकता है। इस प्रकार आलोच्य रचना में क्षण संबंधी अस्तित्ववादी मान्यता को स्पष्ट देखा जा सकता है।

### दुख एवं मृत्यु की अनिवार्यता

अस्तित्ववाद दो विश्वयुद्धों की विनाशकारी विभीषिका से विकसित होकर सामने आया, जिसके परिणामस्वरूप इसमें मृत्यु का विषय अधिक महत्त्वपूर्ण रूप उभरकर सामने आया। अस्तित्ववादी दुख व मृत्यु को मनुष्य का समग्र विनाश नहीं स्वीकारते हैं, बल्कि इनकी मान्यता तो यह है कि ये बिन्दु ही व्यक्ति को उसके वास्तविक अस्तित्व से परिचित कराते हैं। नीत्शे इस विषय में लिखते हैं-“मनुष्य का विकास संभव है अवरोध, अंतर्विरोध, अंधकार और अंत में मृत्यु से जूझने में।”<sup>28</sup> मनुष्य विभिन्न विकट परिस्थितियों में जीवित रहकर ही विकसित होता है। कामू जैसे विद्वान मानते हैं कि ऐसी विकट परिस्थितियों में मनुष्य को आत्मघात का मार्ग न अपनाकर कठोर संघर्ष करना चाहिए। धर्मवीर भारती अंधा युग में इसी विषय को अश्वत्थामा के माध्यम से स्पष्ट करते हुए लिखते हैं-“मुक्ति मिल जाती है सभी को कभी न कभी/वह जो बन्धुघाती है/हत्या जो करता है माता की, विप्र की/बालक की, स्त्री की/किन्तु आत्मघाती/भटकता है अंधियारे लोकों में/सदा-सदा के लिए बन कर प्रेत।”<sup>29</sup>

धर्मवीर भारती स्वीकारते हैं कि कितनी भी विकट परिस्थिति क्यों न हों मनुष्य को आत्मघात का मार्ग नहीं अपनाना चाहिए। उपर्युक्त विभिन्न उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि विवेचित रचना में अस्तित्ववाद की दुख एवं मृत्यु संबंधी मान्यता को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया गया है।

### मूल्यों का विषय

अस्तित्ववादी दार्शनिक मूल्यों के चयन के विषय में स्वीकारते हैं कि मूल्य मानव की स्वतन्त्रता पर निर्धारित होते हैं। मनुष्य को अपने जीवन के मूल्यों को स्वयं तलाशना पड़ता है। नीत्शे मूल्यों के विषय को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं-जिन क्रियाओं द्वारा व्यक्ति की शक्ति बढ़ती है, उन क्रियाओं को नैतिक कहा जा सकता है, किन्तु जिन क्रियाओं के कारण व्यक्ति की शक्ति घटती है उन्हें अनैतिक कहा जा सकता है। शक्तिशाली कार्य नैतिकता की पहचान है और दुर्बलता अनैतिकता की परिचायिका है। अतः किसी वास्तविक परिस्थिति के संदर्भ में ही किसी भी कार्य को नैतिक अथवा अनैतिक कहा जा सकता है। उपर्युक्त संदर्भ के अभाव में किसी भी कार्य को स्वयं ही नैतिक अथवा अनैतिक नहीं कहा जा सकता। समय एवं परिस्थिति में परिवर्तन होने पर नैतिकता के मापदंड



भी बदलते रहते हैं। अतः शुभ और अशुभ के प्रत्यय आपेक्षित होते हैं।<sup>30</sup> नैतिकता के मापदंड समयानुसार बदलते रहते हैं। अस्तित्ववादी दार्शनिक मानते हैं कि हम अपने अस्तित्व निर्माण में अनेक मूल्यों का सृजन करते हैं और अनेक अप्रासंगिक मूल्यों का त्याग कर देते हैं। कीर्तगार्द मूल्यों की महत्ता को महत्त्वपूर्ण न मानते हुए अनेक वरण को महत्त्वपूर्ण मानते हैं और लिखते हैं कि-“अर्थपूर्ण जीवन उन मूल्यों में है जिनकी हम खोज करते हैं। मनुष्य की मानवता वरण की अच्छाई में नहीं, बल्कि सच्चाई में है कि उसने वास्तव में वरण किया है। मूल्य उसके वरण के बाद पैदा होते हैं। इसलिए अस्तित्व तत्त्व से पहले आता है।”<sup>31</sup> इस प्रकार अस्तित्ववादी विचारकों के लिए मूल्यों की नैतिकता चयन की परिस्थिति पर निर्धारित है। धर्मवीर भारती ने अंधा युग रचना के अन्तर्गत मूल्यों संबंधी अस्तित्ववादी मान्यता को भी आवश्यक रूप से उजागर किया है। एक स्थान पर धृतराष्ट्र के माध्यम से नैतिकता को वैयक्तिक रूप से उजागर करते हुए लिखते हैं-“मैंने अपने ही वैयक्तिक संवेदन से जो जाना था/केवल उतना ही था मेरे लिए वस्तु जगत/इन्द्रजाल की माया सृष्टि के समान/घने गहरे अधियारे में/एक काले बिन्दु से/मेरे मन ने सारे भाव किए थे विकसित/मेरा स्नेह, मेरी घृणा, मेरी नीति, मेरा धर्म/बिल्कुल मेरा ही वैयक्तिक था।/उसमें नैतिकता का कोई ब्राह्म मापदंड था ही नहीं।/कौरव जो मेरी मांसलता से उपजे थे/... वहाँ नीति थी/मर्यादा थी।”<sup>32</sup>

धृतराष्ट्र के ये विचार अस्तित्ववाद की मूल्यों संबंधी मान्यता को पूर्णतः स्पष्ट रूप में उजागर करते हैं।

### संत्रास, भय एवं अकेलापन

अस्तित्ववाद का उदय दुख, मृत्यु एवं युद्धों के काले साये में हुआ था, इसलिए इसमें भय, संत्रास एवं अकेलेपन का भाव सहज ही समाहित हो जाता है। अस्तित्ववादी मानते हैं कि ये ही वे भाव हैं जो मनुष्य के वास्तविक अस्तित्व को पारिभाषित करते हैं।

अकेलेपन के विषय में नीत्सो का मानना है कि-ऐसे में व्यक्ति का मार्ग बहुत कठिन हो जाता है। भयंकर बेचैनी आ घेरती है। भविष्य के बारे में कुछ पता नहीं होता, सम्पूर्ण अनिश्चितता को सहना पड़ता है। अंधकार ही अंधकार। यह सब झेलना पड़ता है।<sup>33</sup> अस्तित्ववादी मानते हैं कि ये भाव मनुष्य को उसके विगत जीवन का आभास कराते हैं और उसे गंतव्य स्थल का मार्ग दर्शाते हैं। यह ऐसे भाव हैं जो व्यक्ति की आत्मा का पूर्ण शोधन करते हैं और वास्तविक तथ्यों से अवगत कराते हैं। धर्मवीर भारती ने अंधा युग में इन भावों को

प्रमुखता से उजागर किया है। संत्रास के भाव से संतप्त हो युयुत्सु विदुर से कहता है-“अब यह माँ की कटुता/घृणा प्रजाओं की/क्या मुझको अन्दर से बल देगी/अन्तिम परिणति में/दोनों जर्जर करते हैं/पक्ष चाहे सत्य का हो/अथवा असत्य का/मुझको क्या मिला विदुर/मुझको क्या मिला?”<sup>34</sup>

युयुत्सु संत्रास के भाव में अपने समस्त जीवन को अवलोकित करता है और जीवन के आगामी पथ पर अग्रसर होता है। एक अन्य स्थान पर अकेलेपन के भाव को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं-“मैं भी/सह लेता यदि/सब उच्छृंखलता दुर्योधन की/आज मुझे इतनी घृणा तो/न मिलती/अपने ही परिवार में/माता खड़ी होती/बाँह फैलाये”<sup>35</sup>

विभिन्न अस्तित्ववादी मान्यताओं पर जब अंधा युग को विश्लेषित किया जाता तो यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है कि इसमें अस्तित्ववाद की लगभग सभी मान्यताओं को उजागर किया गया है और विभिन्न मान्यताओं के बीच व्यक्ति के अस्तित्व को प्रमुखता प्रदान की गई है। धर्मवीर भारती की पौराणिक घटना आधारित रचना आज के मशीनीकरण, औद्योगीकरण, भूमंडलीकरण, हत्या, लूटपाट और भय के युग में भी इन्हीं कालजयी मूल्यों के कारण प्रासंगिक बनी हुई है और यही इस रचना की महत्ता का मूल निकष है।

### संदर्भ-

1. राय, कुबेरनाथ, विषाद योग, दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1973, पृ. 127
2. वर्मा, श्यामबहादुर, धर्मन्द् वर्मा, प्रभात बृहत हिंदी शब्दकोश (प्रथम भाग), दिल्ली, प्रभात प्रकाशन, 2010, पृ. 257
3. भारद्वाज, मैथिली प्रसाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांत, चंडीगढ़, हरियाणा साहित्य अकादमी, 1988, पृ. 230
4. नगेन्द्र, मानविकी पारिभाषिक कोश(साहित्य खण्ड), नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1965, पृ. 115
5. मिश्र, श्यामसुन्दर, अस्तित्ववाद और द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य, दिल्ली, विद्या प्रकाशन मन्दिर, पृ. 232
6. The encyclopedia of Britannica, volume (4) 15th edition-2002
7. शर्मा, रामविलास, नयी कविता और अस्तित्ववाद, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 2003, पृ. 124
8. भारती, धर्मवीर, अंधा युग, इलाहाबाद, किताब महल, 1955, पृ. 32
9. सिंह, बच्चन, आधुनिक हिंदी कविता के बीज शब्द, नई दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1983, पृ. 19

शेष पृ. 49 पर.....

---

## समकालीन स्त्री विमर्श : एक अध्ययन

मुहम्मद रफी

प्राचीन काल से लेकर वर्तमान भारत तक स्त्री विमर्श देखें तो हमें पता चलेगा कि वहां लोपा, मुद्रा, विश्ववारा, निवावरी जैसी विदुषी स्त्रियां हुईं। लेकिन तब से अब तक स्त्री विमर्श में हमें नाना प्रकार के रूप दृष्टिगोचर होंगे। वैदिक काल के अन्तिम समय तक पहुंचते-पहुंचते स्त्री की दशा व दिशा में निरन्तर गिरावट आती रही। वह अपनी उस स्थिति से हटा दी गई, जो उसे वैदिक काल में प्राप्त थी, जहां वह देवी रूप में पूजी जाती थी। स्त्री के चरित्र व स्थिति में हुए ह्रास को उस समय की परिस्थितियों में भी देखा जा सकता है जब गुलाम, तुगलक, खिलजी, लोधी व मुगल वंश से सम्बन्धित विदेशी भारत में आकर अपना साम्राज्य कायम करते रहते रहे। इस समय में स्त्री विमर्श की जगह स्त्री दुर्दशा अवश्य देखी जा सकती है। स्त्रियों पर अत्याचार भी बढ़े। स्त्री का अशिक्षित रहना, पर्दा-प्रथा, बलात् आदि घटनाएं इस युग की ही देन कहीं जा सकती है। स्त्री केवल भोग विलास मात्र रही तथा इसी स्थिति को भीष्म साहनी के उपन्यास 'मय्यादास की माड़ी' में भी प्रस्तुत करने की कोशिश की है। 'मय्यादास की माड़ी' में दीवान धनपतराय के मूर्ख बेटे का विवाह धोखे से विधवा वीरावाली की नाबालिग पुत्री रूक्मणी से कर दिया जाता है। "फनियर सांप का काटा बच जाए तो बच जाए, पर धनपत का काटा कभी नहीं बच सकता।" यह धनपत उस पुरुष की मानसिकता की ओर संकेत करता है, जिसके लिए स्त्री मात्र पैर की जूती के समान है। लेकिन ये कहना गलत न होगा कि इक्कीसवीं सदी की स्त्री 'मय्यादास की माड़ी' की रूक्मणी की तरह पुरुष के अत्याचारों से ग्रस्त न होकर स्वतन्त्रतापूर्वक चिन्तन व कार्य करने वाली बन चुकी है। व्यवस्था उसे जो प्रदान कर सकती थी उसने उससे कहीं अधिक मात्रा में अपनी मेधा के बल पर प्राप्त किया है। उसने जो प्राप्त किया है उसमें नारी-पुरुष की समाज में समानता, शिक्षा का अधिकार, व्यवसाय के समान अवसर, आर्थिक आत्मनिर्भरता सत्ता की सम्भाव्य भागीदारी समकालीन स्त्री-विमर्श के लिए दो विचारणीय मुद्दे हैं। पहला यह कि हमारे धार्मिक ग्रन्थ स्त्री को क्या स्थान देते हैं? और दूसरा यह कि स्त्री का स्वतन्त्रता कहां तक

विश्वसनीय है?

सबसे पहले हमें उन धार्मिक ग्रन्थों पर विचार करना चाहिए, जिन्होंने स्त्री के सम्बन्ध में स्वतन्त्र विचार प्रस्तुत कर उन्हें पूजने तक की उपाधि प्रदान की। हिन्दुओं व सिक्ख धर्मों के ग्रन्थों में स्त्री को इस जग की जननी, पालन हारी, देवी आदि के तुल्य मानकर बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। लेकिन जहाँ तक इन ग्रन्थों की सार्थकता का प्रश्न है, तो वह ये है कि इन धार्मिक ग्रन्थों की समकालीन समाज में व्याख्या करने वाले पुरुष इन ग्रन्थों को कहीं न कहीं आज भी वहीं तक सीमित रखे हुए हैं जहाँ पर उन स्त्रियों संबंधी विचार प्रस्तुत किए गए हैं। इसीलिए हमें किसी मन्दिर में पंडित की जगह कोई स्त्री नहीं दिखाई देती व गुरुद्वारे में पाठी के स्थान पर कोई स्त्री उस पाठ का गान करते नहीं दिखाई देती।

किसी भी समाज को वचनों, प्रवचनों, विवादों और विचारधाराओं से नहीं बदला जा सकता। वह विराट प्राकृतिक आपदा या युद्ध जैसी मानव-रचित दुर्घटना से ही बदलता है, क्योंकि इन्हीं परिस्थितियों में ही मानव-चेतना सामुदायिक रूप से इतनी तत्पर, सतर्क और सन्नद्ध होती है कि विचारों को शब्दों के घेरे से बाहर निकालकर कर्म में परिवर्तित कर दे। इसीलिए क्या अब इन ग्रन्थों को वास्तविकता के स्तर तक लाने की आवश्यकता नहीं है?

दूसरा प्रश्न ये उठता है कि स्त्री की स्वतन्त्रता कहां तक विश्वसनीय है? विश्व स्तर पर ये प्रश्न और अधिक विचारशील बन जाता है। "परस्पर विरोधी वर्गों वाली सभी सामाजिक संरचनाओं में, समाज और परिवार में स्त्री की स्थिति मातहत की रही है और इसे धर्म की स्वीकृति प्राप्त रही है। यह भी इतिहास का एक तथ्य है कि पूंजीवादी उत्पादन ने ऐसी स्थितियां पैदा की कि समाज में स्त्री-मजदूरों की और अन्य नौकरी-पेशा स्त्रियों की भागीदारी बढ़ती चली गयी, लेकिन उनकी श्रमशक्ति सबसे सस्ती थी और उनकी पहले से कायम 'घरेलू गुलामी' भी बरकरार थी। इस बुनियाद पर यौन-भेदों और यौन-उत्पीड़न तथा यौनिक आधार पर पार्थक्य,

निर्वासन और उपनिवेश के जटिल सांस्कृतिक सामाजिक मूल संस्थाओं का एक समूचा तन्त्र निर्मित विकसित हुआ है।”<sup>2</sup>

विश्व के अलग-अलग देशों में स्त्रियां आज ऊँचे पदों पर विराजमान हैं। इतिहास के संदर्भ में यदि हम बात करें तो फिर चाहे अमेरिकी क्रान्ति के दौरान मर्सी वारेन और एबिगेल एडम्स के नेतृत्व में स्त्रियों को मताधिकार और सम्पत्ति के अधिकार सहित सामाजिक समानता की मांग करने के लिए जार्ज वाशिंगटन और टॉमस जैफर्सन पर दबाव डालना हो ताकि इन्हें संविधान में स्थान दिया जाये। ‘मनुष्य और नागरिक के अधिकारों की घोषणा तैयार करना और उसे 1791 में राष्ट्रीय असेम्बली के समक्ष प्रस्तुत करना हो (इसमें ‘स्त्रियों पर पुरुषों के शासन’ का विरोध किया गया था और मताधिकार को अमल में लाने के लिए स्त्री-पुरुष के बीच पूर्ण सामाजिक, राजनीतिक समानता की मांग की गयी थी।) अपनी स्थिति में सुधार के लिए स्त्री नीचे से ऊपर की ओर बढ़ती देखी जा सकती है। चाहे कल्पना चावला हो या सुनीता विलियम भारतीय नारी की स्वतन्त्रता भी इस विश्व स्तरीय नारी विमर्श का अभिन्न अंग बनी है।

लेकिन बात फिर से वहीं घूमकर आ जाती है कि अपनी स्वतन्त्रता प्राप्ति की इस लम्बी जंग में स्त्री यदि आज पुरुष के समान स्वतन्त्रता मान रही है तो दामिनी या उस जैसी अन्य किसी मासूम स्त्री को क्यों पुरुष की अनैतिक स्वतन्त्रता के आगे अपनी स्वतन्त्र भावना का त्याग करना पड़ रहा है।

भारत के ग्रामीण इलाकों के संदर्भ में यदि हम बात करें तो बिहार, पंजाब, हरियाणा जैसे इलाकों में स्त्री विमर्श और अधिक सोचनीय विषय बन जाता है क्योंकि इन इलाकों में स्त्री को शिक्षा, पुरुष समान अधिकार आदि की प्राप्ति के लिए

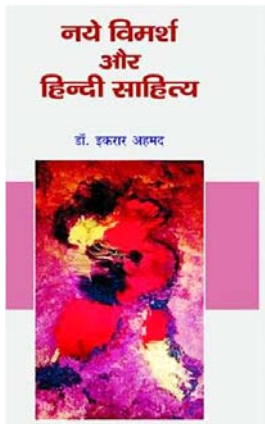
जद्दोजहद करनी पड़ती है। राजनीतिक स्तर पर चाहे सरकारें लाखों स्त्री-शिक्षा से सम्बन्धित बातें कर रही हैं किन्तु वास्तविकता को नकारा नहीं जा सकता। पिछले लगभग तीन दशकों में स्त्री दशा में अन्तर अवश्य आया है, किन्तु अभी तक स्वतन्त्र जिज्ञासु, आत्मविश्वास से भरी पूर्ण स्त्री की तस्वीर ....ऐसी संघर्षशील स्त्री की तस्वीर उभरती है जिसके धरेलू दायित्व वहीं के वहीं हैं और स्वतन्त्रता चाहने के लिए जिसने एक ‘बड़ा भार’ लिये उत्सुक सतत जूझ रही है। मगर ये भी एक सच्चाई है कि वह घबराकर बैठने वाली नहीं बल्कि प्रयत्नशील है।

अस्तु, स्त्री विमर्श के लिए इसके समर्थक लाख चिल्लाये मगर स्त्री की आकांक्षा कम-से-कम भारतीय स्त्री की सम्बन्धों से मुक्ति की नहीं, सम्बन्धों में मुक्ति की है। पुरुष से मुक्ति की नहीं, पुरुष की मुक्ति की है जिससे दोनों एक-दूसरे की मुक्ति के सहयोगी बन सके। जिस प्रकार एक पौधा भोजन के लिए अपनी ही जमीन में वापिस जाता है और वहीं से पनपने का आधार पाता है। उसी प्रकार हमें अपने अतीत व वर्तमान से कुछ सीख कर स्त्री की दशा व दिशा में सुधार लाना होगा। लेकिन देखना ये भी होगा कि कहीं वह पौधा उसी जमीन में ही ठहर तो नहीं जाता अर्थात् अतीत या वर्तमान में ही गुम होकर नहीं रह जाता। स्त्री मुक्ति का स्वपन इसे हकीकत तक जरूर पहुंचाएगा।

#### सन्दर्भ-

1. भीष्म साहनी, मय्यादास की माड़ी, पृ. 69
2. जॉन स्टुअर्ट मिल, स्त्रियों की पराधीनता, भूमिका, काव्यायानी, सत्यम्, पृ. 10

**सहायक प्राध्यापक, परास्नातक राजकीय महाविद्यालय, नारायणगढ़, हरियाणा**



#### नये विमर्श और हिंदी साहित्य

उत्तर आधुनिकता के नये विमर्श इस समय हिंदी साहित्य का केंद्र बिंदु बने हुए हैं। हिंदी के साहित्यकार एवं आलोचक या तो किसी एक विमर्श के पक्ष में हैं या विपक्ष में। तात्पर्य वह इस नये दौर की सामाजिक चेतना की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। इन्हीं नये विमर्शों को केंद्र में रखकर इस पुस्तक की रूपरेखा निर्मित की गयी है। तीन खण्डों में विभाजित यह पुस्तक नयी पीढ़ी के आलोचकों के आलोचनात्मक लेखों का महत्वपूर्ण संकलन है। **मूल्य 499**

**वाङ्मय बुक्स, अलीगढ़ 9044918670**

## प्रवासी साहित्य में नारी-मॉरिशस के संदर्भ में

### सोनिया सोहल

ऋग्वेद से लेकर आधुनिक काल तक कितना कुछ साहित्य रचा जा चुका है और रचा जा रहा है, कितने ही विषय इसके केन्द्र में रहे हैं, जिनका ब्यौरेबार वर्णन यहां नहीं किया जा सकता। साहित्य के परिप्रेक्ष्य में कुछ भी देखें तो उसका धरातल सामाजिक ही होता है, कथ्य चाहे कुछ भी है। निरन्तर प्रवाह के लिए पात्र ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, फिर चाहे वे मुख्य पात्र हो या गौण। सबका सहयोग ही अनिवार्य होता है जिससे साहित्य में गतिशीलता बनी रहती है। इन पात्रों में दो ही पात्र ऐसे होते हैं जो प्रधान रहते हैं एक तो पुरुष पात्र और दूसरा नारी पात्र।

संसार का कोई भी साहित्य ऐसा नहीं है जिसमें नारी का जिक्र न हो। बात की जाए प्रवासी साहित्य (की) के संदर्भ में तो बात करना और भी अनिवार्य हो जाता है। प्रवासी साहित्य की दुनिया में मॉरिशस शहर और वहां की संस्कृति की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। विशेषतः वहां की नारियों का जो जीवन संघर्ष है उसकी झलक प्रवासी साहित्य के लेखकों की कृतियों के माध्यम से स्पष्टतः दीख पड़ती है। डॉ. हेमराज निर्मम इस संदर्भ में लिखते हैं- “मॉरिशस की नारी का आसामान्य परिस्थितियों में विकास हुआ है और वहां की नारी स्पष्ट दो वर्गों में विभाजित थी। प्रथम वर्ग में फ्रेंच और इंग्लैंड से आए हुए परिवारों की नारी और दूसरा वर्ग है भारत और अफ्रीका से आए हुए लोगों के परिवारों की नारी।.....वहां की नारी में शिक्षा प्राप्त कर आत्मनिर्भर बनने, वैयक्तिक स्वतंत्रता को महत्त्व देते हुए मनचाहा जीवन साथ चुने, व्यक्तियों में प्रतिष्ठित होने, आन्दोलनों और चुनावों में भाग लेने की बदलती इच्छा का साहित्य में परिलक्षित होती है।”

पता चलता है नारी के स्वाभाविक जीवनयापन एवं विकास मॉरिशस की परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थीं, क्योंकि वे दासता बनकर ही अधिक रही हैं। क्योंकि वहां के जो गोरे लोग हैं वे अपनी जीवन ऐश्वर्य में व्यतीत करने के लिए मजदूर औरतों को रख लेते हैं और उनसे गृहस्थ कार्य करवाते थे साथ ही उनका शारीरिक शोषण भी कर लेते हैं। इसका उदाहरण रामदेव धुरंधर के ‘पूछो इस माटी से’ उपन्यास

में दिखाई पड़ता है, “कुछ मजदूर औरतें आत्महत्या न करके निर्लज्ज होकर गोरों के गर्भ को धारण किये रहती-दास औरतों की कितनी ही गोदियों में वर्णसंकर बच्चे चिपके हुए नज़र आने लगे थे।”<sup>2</sup> स्पष्ट रूप से दीख पड़ता है कि इन नारियों का जीवन संघर्ष कितना करुणामय है। मात्र भोग्या बनकर रहना और शोषित होना मानों उनकी नियति-सी बन गयी है। इसी के चलते वे आत्महत्या करने को मजबूर हो जाती है। क्या नारी केवल भोग्या मात्र ही है? क्या उसका अपना निजी अस्तित्व नहीं है? ये प्रश्न आज भी हमारे समक्ष मुंह बाएं खड़े हैं जिसका जवाब केवल मौन है.....सिर्फ मौन।

दूर-दराज विदेशों में रह रही महिलाओं का जीवन कैसा हो जाता है। कैसे उनका जीवन साधारण-सा होकर असाधारण-सा हो जाता है इसका भी वर्णन मॉरिशस के साहित्य में दीख पड़ता है। भारत हो या विदेश सभी जगह नारियां अपना जीवनयापन वेश्यावृत्ति द्वारा निर्वाह करती हैं। यह निर्वाहपन उन्हें निर्धनता से मिलता है। इसी पेशे में रहकर औरतें अपना अस्तित्व समाप्त कर देती हैं क्योंकि वे इससे सारी ज़िन्दगी गुज़र बसर नहीं कर सकती। इसका उदाहरण ‘शेफाली’ उपन्यास में दिखलाई पड़ता है- “शेफाली को अशित नामक युवक मिला था, जो उसे बेहद प्रेम करता था और विवाह भी करना चाहता है। तब शेफाली न मानी। बारह वर्ष बाद वह वेश्या जीवन से इतनी ऊबी की अपनी जीवनलीला समाप्त करने हेतु गोलियां खाकर अपने पूर्वप्रेमी अशित को फोन किया। अशित विवाहित और परिवार वाला व्यक्ति है। अंत में उसे अशित ने मौत से बचा लिया। नया जीवन पाकर उसका मन वेश्या जीवन की ओर आकृष्ट नहीं हुआ।”<sup>3</sup> इतना ही नहीं इस उबाऊ पेशे से तंग आकर बिलख उठती हैं और कहती हैं- “मैं थक गई हूं। थक गई हूं, शान्ति चाहती हूं, शान्ति।”<sup>4</sup> यह छटपटाहट मुक्ति की द्योतक है कि वहां की नारी इस संघर्षमयी जीवन से टूट चुकी है और शान्ति चाहती है तथा मुक्ति की बात करती है। यह मुक्ति उनके मन... रख देती है और संसार से अलग होने की बात करती है।

प्रवासी साहित्य में जहां नारी की दयनीय स्थिति वेश्यावृत्ति के पेशे के रूप में दिखाई गई है वहीं विदेशों में कामकाजी महिलाओं जो कालगर्ल होती हैं का यथार्थ दिखाया है कि कैसे वे सम्पन्न होने हेतु सार्वजनिक स्थलों तथा तटीय स्थानों पर पुरुषों को लुभाकर अपना जीवन व्यतीत करती हैं। ऐसा ही एक रूप 'एक बीघा प्यार' उपन्यास में वर्णित है। इसमें वेश्यावृत्ति चमेली का चरित्र दिखाया गया है कि कैसे गांव में वह बड़ी बदनाम है। शेफाली उपन्यास की अशित नायक की सहपाठिने मीला और सीलवी कालगर्ल के रूप में नज़र आती है और धनोपार्जन हेतु अपना सबकुछ न्यौछावर कर देती है। 'अपनी-अपनी सीमा' उपन्यास की नायिका सानी का भी यही हाल है वह ससुराल छोड़ मुक्त भोग में जीना ज्यादा अच्छा समझती हैं।" गांव की अन्य युवतियों की तरह सानी भी नदी पर कपड़े धोने जाया करती थी। आलोक ने उसे अनेक बार वहां देखा था- "भीगे कपड़ों में वह उन शादी और उत्सवों के अवसरों से भी अधिक फबती थी। दोनों बाकी औरतों से अलग जंगली बादाम पेड़ के नीचे पहुंच जाते थे. ...वहां आलोक के चाचा के प्याज का वह खेत था जसकी भड़ई में आलोक ने सानी के साथ पूरी एक रात बिता दी थी।"<sup>5</sup>

ऐसा नहीं है कि वहां की नारी केवल वेश्यावृत्ति या कालगर्ल के रूप में ही है उनका एक अन्य रूप परित्यक्ता नारी का भी उभरा है जो अपने जीवन से हताश न होकर दोबारा जीवन साथी ढूंढती है। 'कसूर किसका' में प्रगतिशील युवक परित्यक्ता से विवाह हेतु तैयार है। विशाल बचपन से वरषा के साथ खेला है। किशोर अवस्था से ही उन दोनों में रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो गये। वरषा परिवार के उस पर कई एहसान हैं। जब वरषा परित्यक्ता होकर मायके आकर रहने लगी तो वरषा का विशाल के प्रति प्रणय फिर से जागृत हो गया। एक दिन विशाल ने वरषा से कहा- "मैं तुम्हें सरप्राईज देना चाहता हूं, जो तुम्हारी आँखों के आंसुओं को बहने से रोक दे। मेरे फैसले पर मेरे निश्चय पर तुम केवल हां कहना, स्वीकृति देना। क्या मेरा साथ दोगी वरषा।"<sup>6</sup>

शनैः शनैः नारी की (दृष्टि) स्थिति में नया मोड़ आया और स्वतंत्रता की राह उन्होंने पकड़ी। ये उनके जीवन में एक नई क्रान्ति की तरह उभरा जो उनके विकास का भी परिचायक

है। वहां की नारी चुनाव लड़ती है। 'चुन-चुन चुनाव' की नायिका महत्वाकांक्षी है। वह चुनाव लड़कर और जीतकर अपनी महत्वाकांक्षी की पूर्ति करना चाहती है। इसी तरह 'छोटी मछली बड़ी मछली' की नायिका विनोदा भी वैयक्तिक स्वतंत्रता की पक्षधर है। उपन्यास में इसके स्वभाव का पता इस बात से चलता है कि वह आधुनिक है और विदेशों में रहने के कारण शराब सिगरेट का सेवन आम-सी बात है। एक स्थल पर दिखाया भी गया है- "विनोदा वक्त के साथ है। पिता जी पिछड़ गये तो पिछड़ गये। नरेन्द्र (प्रेमी) डूब गया तो डूब गया। मां मिट गई तो मिट गई। विनोदा को जीना है और वह शान से जीयेगी, चाहे झूठ के सहारे ही।"<sup>7</sup>

कुछ औरतें वहां गाय पालन का कार्य भी करती है और कारखानों में भी अपना रोजगार चलाती है। 'चेहरों का आदमी' में इसी व्यवसाय को नीलम करती है और घर चलाती है। ऐसे ही और भी रूप हैं जो नारी के चरित्र को विकास देते हैं मुक्ति व स्वतंत्रता के रूप में। मॉरिशस जैसे तो पर्यटन स्थल की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर आकर्षक है, वहां की परिस्थितियां विशेषतः नारी के संदर्भ में शुरूआती दौर में अनुकूल न थीं परन्तु आधुनिकता के आते अब उनमें भी नया मोड़ आया है। नारी आधुनिक भी बनी है और विद्रोही भी हुई है।

अस्तु नारी का जीवन संघर्ष विशेषतः प्रवासी नारियों का जीवन संघर्ष प्रवासी भारतीय साहित्यकारों की कृतियों के माध्यम से यथार्थपरक होकर उभरा है।

#### संदर्भ-

1. डॉ. हेमराज निर्मम, मॉरिशस के हिन्दी उपन्यासों का मूल्यांकन, प्रेम प्रकाश मन्दिर, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1992, पृ. 35-36
2. रामदेव धुरंधर, पूछों इस माटी से, पृ. 13
3. अभिमन्यु अनंत, शेफाली, पृ. 118
4. वही, पृ. 118
5. वही, अपनी-अपनी सीमा, पृ. 78
6. मॉरिशस के हिन्दी उपन्यासों का मूल्यांकन, पृ. 161
7. रामदेव धुरंधर, छोटी मछली बड़ी मछली, पृ. 33

शोधार्थी-हिन्दी विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़



## ‘आधा गाँव’ उपन्यास का समाज-बोध

सुशील कुमार

राही मासूम रज़ा आधुनिक हिन्दी साहित्य के एक ऐसे रचनाकार हैं जिनकी रचनाओं का मुख्य विषय समाज, संस्कृति एवं राजनीति से जुड़ा हुआ है। वे हिन्दुस्तानी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रबल समर्थक थे, यही कारण है कि उनके लेखन में साम्प्रदायिकता सहित सभी वादों के विरुद्ध संघर्ष दिखाई देता है। उनके उपन्यासों ‘आधा-गाँव’, ‘टोपी शुक्ला’, ‘हिम्मत जौनपुरी’, ‘ओस की बूँद’, ‘सीन 75’, ‘दिल एक सादा कागज़’, ‘कटरा बी आरजू’, ‘असंतोष के दिन’ और ‘नीम का पेड़’ में ‘आधा-गाँव’ ने सर्वाधिक ख्याति प्राप्त की है। रचनाकार ने इस उपन्यास में गाज़ीपुर जिले के गंगौली गाँव के शिया मुसलमानों के जीवन का यथार्थपूर्ण और विश्वसनीय चित्र खींचा है, जिसमें भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन द्वितीय विश्वयुद्ध, देश-विभाजन, स्वतंत्रता प्राप्ति, जमींदारी उन्मूलन जैसी घटनाओं का इन शिया मुसलमानों के जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव और उस प्रभाव के फलस्वरूप उनकी मानसिकता में जो बदलाव आया है उसे लेखक ने बड़ी सूक्ष्मता से लक्षित और व्यंजित किया है।

‘आधा गाँव’ में राही ने अपने समाज-बोध का भी भरपूर परिचय कराया है। उनके इस उपन्यास में स्थान-स्थान पर ग्रामीण जीवन लोक रंगों के साथ उभरकर सामने आया है। इसका कारण है कि राही अपने गाँव ‘गंगौली’ से गहरा लगाव रखते थे। तत्कालीनी समय में भारत पर अंग्रेज़ी शासन था। अंग्रेज़ी नीति भारत को लेकर एक उपनिवेश की थी। फलस्वरूप भारत की आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति उपनिवेश के भीतर पंगु हो गयी थी और इसी पंगु अर्थव्यवस्था का समाज था ‘गंगौली का समाज’। ‘गंगौली’ दो भागों उत्तर और दक्षिण में बँटा है। आर्थिक रूप से भी गाँव उच्च वर्ग एवं निम्न वर्ग में विभाजित है जिसमें एक तरफ मुस्लिम जमींदार परिवार है तो दूसरी ओर जुलाहे, अहीर, चमार आदि। जमींदारों की आर्थिक स्थिति बेहतर है, जबकि निम्न जाति के लोग इन्हीं की सेवा चाकरी करते हैं। गाँव का एक आर्थिक दृश्य “गाँव के आस-पास झोपड़ों के कई पूरे आबाद हैं। किसी में चमार रहते हैं, किसी में भर और अहीर।”<sup>1</sup> हिन्दुस्तान की एक विशिष्ट

खासियत है कि चाहे जैसा भी आर्थिक हो स्थिति त्योंहार, धार्मिक कार्यक्रम उसके लिए उत्साहित करने का विषय होता है। इन विषम परिस्थितियों में भी गंगौलीवासी मोहर्रम को सम्भाव से मनाते हैं। मोहर्रम ‘गंगौली’ के लोगों के लिए रूहानी बात थी। उनका मानना था कि मोहर्रम के वक्त इमाम हुसैन हिन्दुस्तान चले आते हैं इसीलिए यह त्योंहार इन ग्रामीणों के लिए और भी खास हो जाता है। मोहर्रम के वक्त गंगौली वाले जूनूनी हो जाते हैं। “बब्बन दादी की एक आँख चेचक में चली गयी थी, इसलिए वह एक ही आँख से रोया करती थीं। उन्हें इसका बड़ा दुःख था कि सब दो आँखों से रोते हैं और वह एक आँख से रोने को मजबूर है... ‘अरे एक्के ठो अँखिया से कइसे रोयें हे मौला....!’”<sup>2</sup>

मोहर्रम में पढ़े जाने वाले मरसिये और नौहे ग्रामीणों के लिए जोश और जुनून की बात थी। इनकी धुने लोक आधारित थी। भारतीय सिनेमा अभी गाँवों से दूर था इसलिए इस धुनों की परम्परागत शैली बनी हुई थी, वर्ना आज के ग्रामीण गीतों की तरह जिनकी अपनी पद्धति ही खत्म हो गयी है और वे मात्र फ़िल्मी रह गयी है। “..... और बाजी नौहों की बयाजें निकालकर नयी-नयी धुनों की मश्क करने लगती। उन दिनों नौहों की धुनों पर फ़िल्मी म्युजिक का कब्जा नहीं हुआ था। नौहों की धुने देहातों, कस्बों और छोटे-मोटे शहरों की लोक-धुनों की तरह सादा और साथ ही साथ गंभीर हुआ करती थीं और जब बाजी अम्मा या कोई और खाला या फूफी काले कपड़े पहनकर नोहा पढ़ने खड़ी होतीं.... ‘सोते-सोते सकीना यह कह उठी, शह का सीना नहीं तो सकीना नहीं...’ तो बयाज सँभालने वाली कलाईयाँ एकदम से बदल जातीं। सुनने वाले को ऐसा मालूम होता जैसे नौहे की आवाज़ खास दमिश्क के बन्दीघर से आ रही है।”<sup>3</sup> गाँव के दोनों पट्टियों में बात-बात को लेकर प्रतिस्पर्धा थी। वे इतने उत्साही थे कि ताजिए को लेकर स्पर्धा करते, मातम में बेहोश होने की स्पर्धा आदि करते।

तत्कालीन परिस्थितियों में ग्रामीण मुस्लिम परिवारों का सामाजिक जीवन बेहद ही करीने एवं बेलाग-लपेट के सामने

लाते हैं। डॉ. गोपाल कृष्ण शर्मा के अनुसार- “राही मासूम रज़ा के सामाजिक अनुभव व्यापक कहानियों का चित्रण करते हैं जो विविधतापूर्ण हिन्दुस्तानी समाज का निर्माण करने में सहायक होती हैं।”<sup>14</sup> सैयद घरानों में स्त्रियों का सम्मान नहीं है। अधिकांशतः स्त्रियाँ अशिक्षित थीं। जमींदार अपनी शान-शौकत एवं दिखावे पर ही अधिक खर्च करते थे। इनके द्वारा तीन चार औरते रखना एक शान की बात समझी जाती थी। परिवार बड़े थे जिनमें विधवा, कुआरियाँ, प्रौढ़, स्त्रियाँ एवं बच्चे थे। आधा-गाँव में यौन सम्बन्धों की चर्चा करने में राही ने कहीं भी गुरेज नहीं किया है।

उपन्यास की कहानी में परिवारों में अवैध सम्बन्धों का सिलसिला भी खूब चलता है। यहाँ तक कि यह सम्बन्ध घरों में ही बन जाते हैं। विधवा औरतों के सम्बन्ध घर में ही हैं। कुआरियाँ शादी के पहले ही गाँव के लड़कों से इश्क करने लगी हैं। राही के कुछ पुरुष पात्र चरित्र के कमजोर भी हैं वे बीबियों को छोड़कर निम्न जाति की स्त्रियों को रख लेते हैं या फिर रंडियों के पीछे अपना सर्वस्व लुटाने को तैयार रहते हैं। राही कहते हैं- “दूसरा विवाह करना या किसी गैर औरत को घर में डाल लेना बुरा नहीं समझा जाता था। शायद ही मियाँ लोगों का कोई ऐसा खानदान हो जिनमें कलमी लड़के एवं लड़कियाँ न हों। जिनके घर में खाने के लिए भी नहीं होता वे भी किसी न किसी तरह कलमी आमों और कलमी परिवार का शौक पूरा कर ही लेते हैं।”<sup>15</sup>

राही के तमाम ऐसे चरित्र हैं जो कि दैनिक जीवन में ग्रामीण मान्यता के छुआछूत को जारी रखे हुये हैं। वीरेन्द्र यादव राही की रचना में दलित विषयों के सम्बन्ध में कहते हैं- “जहाँ राही मासूम रज़ा सामन्ती व्यवस्था के रख-रखाव में दलितों एवं निम्न जातियों की भृत्य व सेवक की भूमिका को रेखांकित करते हैं, वहीं वे दलितों की सामाजिक चेतना और उनके सशक्तीकरण का विमर्श रखते हैं।”<sup>16</sup>

सुलेमा चा एक पैबंद मुसलमान है। वह झगटिया बो को रखने के बावजूद उसका छुआ नहीं खाते, वहीं ठाकुर साहब की रखैल गुलाब जान एक मुसलमान है, ठाकुर साहब उसका छुआ कभी नहीं खाते। देहात की कुजात छोटने की परम्परा के पालन का भी उल्लेख मिलता है। एक परिदृश्य में फुन्नन मियाँ को कुलसुम को लाये जाने पर बिरादरी से बाहर धकेल दिया जाता है। फुन्नन की लड़की के जनाजे में बिरादरी का कोई मुसलमान शामिल नहीं होता है।

राही अपने समय के सजग रचनाकार थे। उनकी दृष्टि पारखी रचनाकार की दृष्टि थी। वे बदलावों को महसूस कर सकने में बेहद ही योग्य थे। यह सजगता उन्हें उनके जीवन

धार्मिता से मिली थीं गंगौली का जीवन राही का स्वयं भोगा-बीता हुआ जीवन था। उनकी जीवनचर्या के अध्ययन से उनके राजनीतिक जीवन का पता चलता है जहाँ विचारधारा के प्रभाव के कारण वे कांग्रेसी पिता के खिलाफ गाज़ीपुर नगर पालिका के चेयरमैन के लिए साम्यवादी बब्बन राम का साथ दिया। स्थिति स्पष्ट है कि रचनाकार की पृष्ठभूमि तो उनकी रचना में आनी ही है, तो यही वस्तुस्थिति आधा-गाँव में राजनीतिक गतिविधियों की भी बुनावट करती है।

राजनीतिक दृष्टि से देखें तो ‘आधा-गाँव’ में राजनीति पूरी तरह हावी दिखाई देती है, अन्तर सिर्फ इतना है कि यहाँ की स्थानीय राजनीति परम्परागत पारिवारिक वैमनस्य, वर्गीय भेद, ऊँच-नीच, जमींदारी, पाक हड्डी का गरुर, अनैतिक यौन सम्बन्ध आदि का समावेश है। आज़ादी के बाद गाँव में बदले राजनीतिक संदर्भ, गाँव पंचायत के चुनाव तथा सरकारी संस्थाओं ने प्रमुख भूमिका निभाई। आज़ादी के पूर्व तथा पश्चात् भारत का शायद ही कोई गाँव होगा जहाँ गुटबाजी न हो। गंगौली का दो पट्टियों (उत्तर-दक्षिण) में विभाजित होना गंगौली के राजनीतिक प्रपंच की प्रथम कड़ी है। “गंगौली में तीन बड़े दरवाजे हैं। एक उत्तर पट्टी में है जो पक्कड़ तले कहा जाता है... और दो दक्षिण पट्टी में। एक जहीर-चा के पुरखों का ..... इस फाटक का नाम ‘बड़का’ फाटक है। .. दरवाजा अब्बू-दा के बुजुर्गों का है जो ‘अब्बू मियाँ का फाटक’ कहा जाता है। हमें इन्हीं तीनों फाटकों और इनके चारों तरफ रहने वाले सय्यद-परिवारों में जाना है।”<sup>17</sup> उपन्यासकार ने इन बड़े फाटकों वाले जमींदारों की चर्चा करके राजनीतिक माहौल का प्रारम्भिक खाका प्रस्तुत किया है।

गोरे दा, अबू दा, मुहम्मद दा, मुख्तार मियाँ, दिलदार मियाँ, मौलबी बेदार, रसीद मियाँ, अली कादिर चा, हकीम अली, कबीर साहब, फुन्नन मियाँ, अली हादी चा, अगू दा, मुस्लिम दा ये सभी चरित्र गंगौली गाँव के छोटे-बड़े जमींदार हैं। उन्हें अपनी झूठी शान पर गर्व है। आपस में फौजदारियाँ होती हैं और झूठे मुकदमों गढ़े जाते हैं। आज़ादी के पहले गाँव राजनीति मुख्यतः जमींदार, ठाकुर, पटवारी, कानूनगो, पुलिस एवं सरकारी कर्मियों के द्वारा फलीभूत होती थी। इन्हीं सबके द्वारा गाँव के गरीब-गुरबा पर अत्याचार, जबरन बेदखली, धन वसूली एवं फर्जी मुकदमों आदि को आरोपित किया जाता था और इस प्रकार भ्रष्टाचार व शोषण का एक वृहदचक्र चक्रायमान हो जाता था। ‘आधा-गाँव’ में कोमिला चमार इसी तरह की राजनीति में फँस कर दुर्गति प्राप्त करता है जहाँ जमींदारों व पुलिस सभी अपने फायदे के लिए उसका बुदाहाल करते हैं।

इंकलाब आन्दोलनों के जोर पकड़ने का प्रभाव भी राही

के देहातों में दिखाई देता है, जहाँ हिन्दू महासभा, कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग आदि संगठन राजनीति की तस्वीर को बदलने लगते हैं। भारत विभाजन का खतरा अब बढ़ गया है। 'पाकिस्तान' के निर्माण का जहर बोया जा चुका था जो गंगौली में कोई नई चीज़ जैसी तो थी पर वह क्या थी यह किसी को न पता था.... "बा जी, यह पाकिस्तान क्या है?". ..... "मुसलमानों का एक मुल्क बनेगा।" सरवरी ने बड़े विद्वानों की तरह कहा। "यह मुल्क क्या होता है, बा जी?" सरवरी इस सवाल पर बिलकुल सिटपिटा गयी, क्योंकि यह बात उसे भी नहीं मालूम थी कि मुल्क क्या होता है।" पूर्व में जो मुस्लिम जमींदार कांग्रेसी थे कांग्रेस के जमींदारी प्रथा उन्मूलन के कारण लीगी हो गयी। वहीं अलीगढ़ के पढ़े-लिखों के द्वारा गंगौली के मुसलमानों को धर्म के आधार पर भड़काया जाता है, तो हिन्दू महासभा के लोग गाँव में हिन्दू परिवारों को विदेशी मुसलमानों के प्रति भड़काने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ते। यह स्थिति धार्मिक-साम्प्रदायिक उन्माद फैलाने के लिए काफी था। इन्हीं स्थितियों के कारण आज़ादी एवं बँटवारे का समय देश के साम्प्रदायिक संघर्ष की भीषण स्थिति तक ला छोड़ता है।

अब देश के साथ ही गंगौली में भी मुस्लिम लीग की आमद दिखने लगी। गंगौली की गलियों में पाकिस्तान बनने के नारे सुनायी देने लगे हैं, "बल्ली साई के मोढ़ पर लड़कों का एक जुलूस एकदम से नारे लगाने लगा:

"नारये-तकवीर!"

"अल्लाहो-अकबर!"

"काइदे-आजम!"

"जिन्दाबाद!"

"मुस्लिम लीग!"

"जिन्दाबाद!"

एक संदर्भ हिन्दू सभा का "...धर्म संकट में है। गंगाजली उठाकर प्रतिज्ञा करो कि भारत की पवित्र भूमि मुसलमानों के खून से धोना है।" इन सबके बावजूद गंगौली अलग और अनोखा गाँव है जहाँ धर्म किसी विद्वेष का कारण नहीं बन पाया है। स्वयं 'रज़ा' धर्मनिरपेक्ष रहकर धर्म आधारित पाकिस्तान का विरोध करते हैं तो गंगौली सहज और स्वाभाविक एक हिन्दुस्तान के पक्ष में खड़ा दिखता है। जहाँ पाकिस्तान की ज़रूरत ही नहीं है। आधा-गाँव का पात्र फुन्नन कहता है- "अ पाकिस्तान बनिबो करिहे त गंगउली से बहुत दूर बनिहे। तू जाके अपनी चरखी सँभालो अउर ताना ठीक करो। पाकिस्तान-आकिस्तान पेट भरने का खेल है।" यहाँ राही गाँधीवाद से प्रभावित दिखते हैं और फुन्नन के माध्यम

से यह संकेत भी देते हैं कि पाकिस्तान कुछ लोगों को फायदे का राजनीतिक चोचला है।

गंगौली की रवायत और राजनीति दोनों देश की राजनीति से अलग रूख अख्तियार किये हुये हैं। यहाँ मुस्लिम परिवारों को दंगे के भय से गाँव-छोड़कर भागते देखकर उन्हें पहले प्रेम से और न मानने पर धमकाकर गाँव में ही रहने का आग्रह करने वाले ठाकुर जसपाल सिंह हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रतीक के रूप में दिखाई देते हैं। गंगौली में धर्म एक श्रद्धा का विषय तो है किन्तु यह श्रद्धा द्वेष का कारण नहीं बन पाती जो इसकी अनूठी खासियत है। शायद यही वह प्रमुख कारण है कि राही गंगौली को हृदय से लगाये रखते हैं। यह एक मिशाल है कि जब पूरा देश साम्प्रदायिक दंगों के आग में जल रहा था तब भी गंगौली थोड़े बहुत विचलन के साथ शान्त था।

राही का 'आधा गाँव' उपन्यास स्वतंत्रता के बाद बदलता है। राही जमींदारी उन्मूलन के बाद जमींदारों के तंगहाली, मुसलमानों के आर्थिक रोजगारों को लेकर चिन्तित होते हैं। वे साम्प्रदायिकता के कारणों में एक कारण बेरोजगारी को मानते हैं जिसके बिना पर गाँव बदलता है। राष्ट्रीय बुर्जआ वर्ग के चरित्र और धार्मिक साम्प्रदायिकता के बदले रूप को रेखांकित करते हुए राही गंगौली के माध्यम से चिन्ता व्यक्त करते हैं- "इधर कुछ दिनों से गंगौली में गंगौली वालों की संख्या कम होती जा रही है और सुन्नियों, शियों और हिन्दुओं की संख्या बढ़ती जा रही है। शायद इसीलिए नुरुद्दीन शहीद की समाधि पर अब उतना मजमा नहीं लगता और गंगौली का वातावरण 'बोल मुहमुदी' 'या हुसैन' की आवाज़ से उस तरह नहीं गुँजता जिस तरह कभी गुँज उठता था।" भारत की स्वतंत्रता के साथ सकारात्मक परिवर्तन भी दिखाई पड़ते हैं भारत ने लोकतांत्रिक एवं धर्म निरपेक्ष राज्य के रूप में अपनी पहचान बनायी। यह बदलाव राजनीति में भी स्पष्ट होता है। कल तक जो चमार इन जमींदारों के घरों में बेगार बने थे, उन्हीं में से परसूराम आज एम.एल.ए. बन गया है। फुन्नन मियाँ कहते हैं- "ई सैय्यदी बघारे का जमाना है? अरे मियाँ दिन इज्जत-आबरू गुजर जाये गनीमत जानो।" अब गाँव के निम्न वर्गीय जाति के लोगों में एक नया राजनीतिक चेतना उत्पन्न हो गयी थी।

इन बातों के क्रम में जब हम उपन्यास की बोली-भाषा पर नज़र डालते हैं तो यह उपन्यास अपने अँचल की छाप छोड़ता जान पड़ता है। यहाँ की भाषा पूर्वी उत्तर प्रदेश की बोली जाने वाली भोजपुरी मिश्रित उर्दू है, जहाँ इनके कुछ हिन्दू पात्र पूरी तरह केवल भोजपुरी ही बोलते दिखते हैं। गंगौली में खड़ी बोली, उर्दू बोलने वाले को अच्छी नज़र से नहीं देखा जाता।

यहाँ वही लोग उर्दू बोलते हैं जिनका सम्बन्ध शहर से है। “बाजी शादी के बाद शहर की हो गई इसीलिए कभी-कभार वह भी उर्दू बोल लेती मगर हम लोग आज भी वही जबान बोलते हैं जो जबान अम्मा बोला करती थीं और जो जबान मन्तो बुआ, ईदू और रउफ की थी और जो जबान गंगौली के मीर साहबान की है- यानी भोजपुरी उर्दू।”<sup>12</sup>

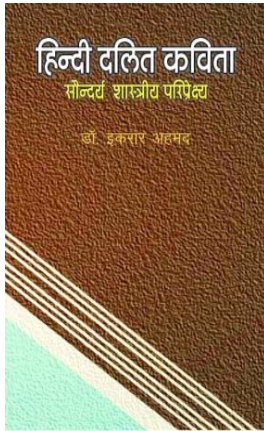
आधा गाँव की कथा तत्कालीन समाज की मानसिकता समाज की स्थिति, आर्थिक प्रभाव, मुस्लिम जीवन की संस्कृति उनकी रीति-रिवाज, लोक और ग्रामीण जीवन को पूर्णतया निरूपित करती है। यह उपन्यास आत्मचरितात्मक शैली में लिखा गया है। लेखक स्वयं एक विशिष्ट पात्र है जो कहानी को लेकर आगे बढ़ता है। उपन्यास में लेखक के स्वयं मौजूद होने के कारण वह अपने समाज का बेहतर ढंग से प्रस्तुत करने में सही सिद्ध हुआ है। इसमें उत्तर भरत में बसने वाले ग्रामीण मुस्लिम जीवन को उनकी अच्छाई-बुराई की सम्पूर्णता के साथ अभिव्यक्ति मिली है। गंवई मुस्लिम परिवारों का इतना अन्तरंग, सूक्ष्म एवं यथार्थपूर्ण वर्णन शायद ही पहले किसी उपन्यास में हुआ हो। राही, प्रेमचन्द की परम्परा के वास्तविक उपन्यासकारों की श्रेणी में से एक है, जहाँ उनकी अपनी ग्रामीण संस्कृति, जीवन, रहन-सहन, सौहार्द, भाईचारा

और बोली है। इसमें परिवर्तन करना संभव नहीं है। गंगौली जैसे गाँव हिन्दू-मुस्लिम साँझा संस्कृति के ज्वलन्त उदाहरण है। आधा गाँव हमारे लिए आज भी और अधिक प्रासंगिक है।

#### संदर्भ-

1. राही मासूम रज़ा, आधा गाँव, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 14
2. वही, पृ. 39
3. वही, पृ. 17
4. (सं.) कुँवर पाल सिंह, राही और उनका रचना संसार, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 72
5. आधा गाँव, पृ. 99
6. राही और उनका रचना संसार, पृ. 124
7. आधा गाँव, पृ. 14
8. वही, पृ. 257
9. वही, पृ. 274
10. वही, पृ. 257
11. वही, पृ. 351
12. वही, पृ. 21

#### 45, निजामुद्दीनपुरा, जनपद-मऊ 275101

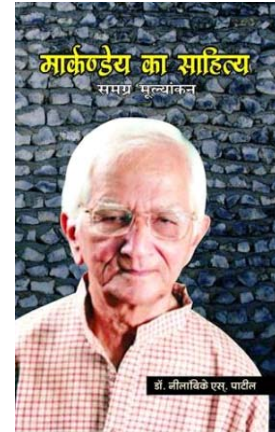


#### हिंदी दलित कविता सौंदर्यशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

उत्तर आधुनिकता के इस दौर में साहित्य और विमर्श का एक दूसरे से अन्योन्याश्रित संबंध है। सदियों से समाज की ‘जूठन’ पर आश्रित दलित समुदाय की वाणी का प्रस्फुटन आज दलित कविता के रूप में उपस्थित हैं। परंपरावादी साहित्य के इतर कविता का यह रूप प्रत्येक कालखण्ड में रहा है। सिद्धों, नाथों व संत साहित्य की परंपरा का मुखर रूप है-हिंदी दलित कविता।’

#### मार्कण्डेय का साहित्य समग्र मूल्यांकन

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी-साहित्य में प्रेमचंद के बाद उनकी परंपरा को बनाये रखते हुए समय-गति के साथ कदम बढ़ाते हुए कहानी को सही दिशा की ओर ले जाने वाले कहानी-लेखकों में मार्कण्डेय अग्रणी हैं। नयी कहानी आंदोलन और समांतर कहानी आंदोलन इस प्रकार दो-दो आंदोलनों को क्रियाशील बनाने और और आम आदमी के नज़दीक कहानी को ले जाने में मार्कण्डेय ने अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा अर्पित की है।



---

## रीति स्वच्छंद काव्य की आधुनिकता : एक दृष्टि

जय प्रकाश पाण्डेय

शास्त्रीय चौखटों को अस्वीकार करके, परम्परागत प्रतिमानों को गलत ठहराकर, वैयक्तिकता को प्रधानता देने वाला काव्य, दरबारी मर्यादा को तोड़कर, एकोन्मुख प्रेम और आत्मानुभूति को काव्य में प्रतिष्ठित करने वाला काव्य ही रीतिमुक्त काव्य कहलाता है।

पश्चिम में स्वच्छंदता का आगमन शास्त्रीयतावाद की रूढ़ियों एवं बन्धनों के खिलाफ विद्रोह के रूप में होता है। इसी सन्दर्भ में स्वच्छंदता शब्द का प्रयोग हिंदी साहित्य में किया गया है। स्पष्ट है कि यहाँ पर स्वच्छंदता शब्द को परम्पराओं और रूढ़ियों के त्याग के अर्थ में प्रयोग में लाया गया है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आधुनिक काल की अन्य काव्यधाराओं को भी स्वच्छंद काव्यधारा कहा है। इस काव्य धारा के सभी कवि अपने समय की प्रचलित साहित्यिक परम्पराओं को त्याग कर भावनाओं के मुक्त क्षेत्र में विचरण करने वाले थे। शुक्ल जी कि दृष्टि में ये सभी कवि स्वच्छंदतावादी थे। इससे हम कह सकते हैं कि हिंदी साहित्य में स्वच्छंदतावादी शब्द परम्पराओं और रूढ़ियों के त्याग के अर्थ में अधिक प्रयुक्त हुआ है। रीतिकाल के दौरान रीतिमुक्त काव्यधारा के कवियों ने रीतिवादी मानसिकता का निषेध करते हुए लक्षण और उदाहरण की परिपाटी में बंधने से इनकार कर दिया। जहाँ इस दौर के अन्य रचनाकार शब्द सज्जा, रूप सज्जा, काव्य शास्त्रीय रूढ़ियों और नियमों को कहीं अधिक महत्त्व दे रहे थे, वहीं घनानंद, बोधा, आलम, ठाकुर आदि कवि हृदय की आंतरिक अनुभूतियों और इसकी यथार्थपरक अभिव्यक्ति को कहीं अधिक महत्त्व दे रहे थे।

इनके द्वारा चित्रित खुद इनका ही भोग हुआ जीवन है इसलिए इनकी रचना में आत्मपरकता और वैयक्तिकता का पुट कहीं अधिक है। अभिव्यक्ति की तुलना में अनुभूति को महत्त्व देने के कारण ही ये कवि भाषा और व्याकरण शास्त्र के नियमों और बन्धनों को नकारते हुए और उन्हें अपने हिसाब से पुनर्व्यवस्थित करते हुए नज़र आते हैं। इसका संकेत हम सहज ही घनानंद की इन पंक्तियों से करते हैं- “लोग हैं लागी

कवित्त बनावत मोहि तो मेरे कवित्त बनावत”

मनोहरलाल गौड़ लिखते हैं कि-“स्वच्छंदतावादी साहित्य में अभिन्नत्व रहता है क्योंकि उसकी प्रेरणा जीवन से मिलती है।”

बच्चन सिंह का मत है कि-“स्वच्छंद काव्यधारा के कवि दरबार में रहते हुए भी दरबारी नहीं थे।...लक्षण के बन्धनों में बंधना उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति के विरुद्ध था”

रीति स्वच्छंद कवियों ने अपने समाज की सड़ी-गली व्यवस्थाओं का तिरस्कार किया। अपनी अनुभूतियों को प्रकट किया, अपने सच को कहा जिसकी अज्ञेय भी उद्घोषणा करते हैं-

“मौन भी अभिव्यंजना है,

जितना तुम्हारा सच है उतना ही कहे”

सामंती परिवेश को एक हिन्दू का एक मुस्लिम से प्रेम, एक वेश्या से एकनिष्ठ प्रेम, वो वेश्या जिसकी स्थिति मध्यकाल में राजाओं के हरम तक सीमित थी, क्या मानव को मानव के रूप में ही देखने का आधुनिक विचार यहाँ नज़र नहीं आता? अपनी पूरी कविताई को सुजान की ही निष्पत्ति बता देना क्या आधुनिकता नहीं? क्या आज का युग रीतिकालीन समाज की स्थिति से पूर्णतया स्वतंत्र है? ऐसे में यह बात अपने आप जाहिर हो जाती है कि रीति स्वच्छंद काव्य की आधुनिकता को नकारा नहीं जा सकता।

रीति स्वच्छंद काव्य की आधुनिकता का पहला पक्ष तो यथार्थवादी दृष्टिकोण है। जो सच है उसका वर्णन आधुनिकता के मूल में भी यही यथार्थवादी दृष्टि है। राजाओं की युगीन विलासी एवं स्वार्थी मनोवृत्ति का अत्यंत अपमानजनक तथा तिरस्कार भरी शैली में ठाकुर मज़ाक उड़ाते हैं। सामंती समाज में, रीतिकालीन धारा के प्रायः सभी कवि जहाँ आश्रयदाताओं को खुश करने में लगे रहते हैं, वहाँ रीति स्वच्छंद कवि ठाकुर की यह उक्ति कि- “मीर जादे पीर जादे असल अमीर जादे, साहिब फकीर जादे जाद आप खो रहे... ../सब जादे मिटी के हरामजादे हो रहे”

क्या ये पंक्तियाँ एक विरोध की ध्वनि नहीं पैदा कर रही



हैं उस सामंती सत्ता के विरुद्ध? यह था यथार्थवादी दृष्टिकोण। घनानंद अपने भोगे हुए यथार्थ को ही कहते हैं। अनुभूतिजन्य पीड़ा को प्रकट करते हुए जब घनानंद कहते हैं कि “बूढ़े न परति मेरे जान प्यारी, तेरे विरही कों, हेरी मेघ आंसुनी झरयो करे” अर्थात् हे मेघ मेरे खारे आंसू को उस विसासी सुजान के आंगन में बर्ष दे, प्रियतम के विसासी होने पर भी ऐसा घनिष्ठ एकनिष्ठ प्रेम क्या राजाओं के अन्तःपुर में संभव था। ऐसा सात्विक और समर्पित प्रेम क्या रीति स्वच्छंद धारा से पहले कहीं देखने को मिलता है?

डॉ. राजेंद्र मिश्र कहते हैं- “आधुनिकता इतिहास से अलग नहीं है, परंपरा से अलग नहीं है, अतीत से अलग नहीं।”

### आधुनिकता क्या है?

आधुनिकता मध्यकाल से अलग होने की स्थिति है। आधुनिकता इस लोक की बात करती है। अगतिशील हो चुकी वर्जनाओं को तोड़कर पुनः गतिशील एवं स्वस्थ... उन्हें मुख्यधारा में लाने का प्रयास ही आधुनिकता है। जिस देव की रट लगाकर मनुष्य पारलौकिक सत्ता की बात करता था उस देव का मानवीकरण हो जाना ही आधुनिकता है। अपनी अनुभूति के प्रति एक तरह से फोकस हो जाना ही आधुनिकता है।

डॉ. बच्चन सिंह का मत है कि “आधुनिक शब्द दो अर्थों मध्यकाल से भिन्नता और नवीन इहलौकिक दृष्टिकोण की सूचना देता है ....सुधार परिष्कार और अतीत का .... नवीन दृष्टिकोण की देन है”। अजय तिवारी मध्यकालीनता की प्रचलित यूरोपीय धारणा को भारत पर लागू करने से एतराज करते हैं। भारत में लोकजागरण की एक तरह से देसी परंपरा की बात आधुनिकता पर पुनर्विचार में कहते हैं।

प्रायः तर्क और बौद्धिकता से लबालब भरी एक ऐसी चिंतन प्रक्रिया जिसमें मनुष्य केन्द्रित चिंतन होता है आधुनिक चिंतन प्रक्रिया कहलाती है। यही वजह है कि आधुनिकता का सम्बन्ध जहाँ यथार्थवाद से जुड़ता है वही मानवतावाद से भी। अब ईश्वर केन्द्रित चिंतन खत्म होता है और इसी ईश्वर की अनुपम कृति मानव के विषय में चिंतन की शुरुआत होती है। व्यक्ति के लिए स्वानुभूति महत्वपूर्ण हो जाती है, इन अनुभूतियों को किसी शास्त्रीय परिपाटी द्वारा अपने बंधन में नहीं बाँधा जा सकता।

रीति स्वच्छंद काव्य की आधुनिकता तो सर्वप्रथम वही साबित हो जाता है जब परंपरागत शास्त्रीय मान्यताओं को रीति स्वच्छंदतावादी कवि तोड़ता है और उस परंपरा की लीक

से हटकर काव्य सृजन तो करता है। ठाकुर जब कहते हैं-“लोग कवित्त किबो खेल करिबो जानू है” तब वो परंपरा का ही वर्णन देते दिखाई देते हैं। प्रत्येक समाज अपनी आधुनिकता का गठन अपनी परिस्थितियों और परम्पराओं के संघर्षों के मध्य करता है, रीतिस्वच्छंद काव्य की आधुनिकता क्या है? यह जानने से पहले यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि आधुनिकता की अवधारणा हिंदी साहित्य के इतिहास में प्रारंभ से ही देखने को मिलती है। कबीर का उस सामंती परिवेश में समझ के विरुद्ध खड़े होना और यह कहना कि- “जीवित पितर न मानै कोउ मुए श्राद्ध कराही”।

और वही दूसरी तरफ घनानंद का एक वेश्या से प्रेम!! यह वैचारिक आधुनिकता नहीं तो और क्या है? आज जब हम वेश्या उद्धार की बात करते हैं क्या ऐसे में हमें घनानन्द के विचार आधुनिक नहीं लगते?

डॉ. रामप्रताप भावसार का मत है कि....मद्यपान हिन्दुओं तथा मुसलमानों में समान रूप से व्याप्त था। राजपूत, कायस्थ, खत्री कोई भी इससे अछूता नहीं था। छोटे छोटे कर्मचारियों के यहाँ भी हरम रहते थे जिनमें उनके उपयोग हेतु विलास सामग्री तथा सुंदरियों का ठाठ था ....सब लोग अहंकारी, कपटी तथा दुराचरण में व्यस्त थे, सारा संसार झूठ का दीवाना- सा प्रतीत होता था। इस समय की जस कि तस स्थिति को पूर्णतः यथार्थपरक ढंग से ठाकुर कहते हैं-

“दम्भी दगाबाज की बाड़ी है अधिक थाप,  
ज्ञान ध्यान वारेन कि बात प्रेम मन है,  
पूछत न कौऊ कवि कोविद प्रवीनन को  
नमक हरामी को हजारन खजाना है  
ठाकुर कहत कलिकाल को प्रभाव देखो  
झूठन की बातन से जगत दीवाना है”।

झूठन की बात से जगत दीवाना है यह बात आज भी 21 वीं सदी में सही साबित हो रही है। रीतिस्वच्छंद कवियों ने अपने समाज का तटस्थ रहकर मूल्यांकन किया है। प्रेम को समझने के लिए या अपनी स्थिति समझने के लिए जिस सहृदयता और सहानुभूति की आवश्यकता होती है वह न तत्कालीन समाज में थी, न वर्तमान समाज में।

बोधा कहते हैं-“जिन जान्यो तिन मानिहैं मानै नहीं अजान। कसकत ताहि के हिये जा हिय बेध्यो जान”।।

रीतिकाव्य में शरीर के विभिन्न अंगों का जिस सूक्ष्मता से वर्णन किया, वही रीतिस्वच्छंद काव्य में इन अंगों के रूप रंग के कथन की अपेक्षा प्रभाव-व्यंजना की ओर कवि की दृष्टि है

“लाजानि लपेटी चितवनि भेद भाव भरी,

लसति ललित लोल चख तिरछानी में,  
छवि को सदन गोरो बदन, रुचिर भाल,  
रस निचुरत मीठी मृदु मुस्क्यानी में,  
दमन दमक फैलि हिये मोती माल होती  
पिय सों लड़कि प्रेम पगी बतरानि मै।  
आनंद की निधि जगमगती छबीली बाल ,  
अंगनी अनंग रंग दुरी मुरी जान मै” (घनानन्द)

लज्जा में लिपटी किन्तु रहस्यमभावों से परिपूर्ण चंचल तिरछे नेत्रों की चितवन, छवि गृह के समान गौर मुख, सुंदर ललाट, रस निचोड़ती हुई मीठी कोमल मुस्कान, प्रिय के साथ प्रेमपूर्वक वार्तालाप की मुद्रा में दिखाई देने वाले दाँतों की आह्लादजनक आभा, भावपूर्ण अंग संचालन आदि के माध्यम से नायिका के अंगों और उसकी आंगिक क्रियाओं का कवि ने एक गतिशील चित्र पेश किया है।

गोपियों के लाल के रूप में सामान्य नायक को प्रतिष्ठित किया गया। सांवलिया सामान्य नायक के रूप में प्रतिष्ठापित हो गया। रीतिस्वच्छंद का कवि राधा कृष्ण की भक्ति नहीं करता, उन्हें काव्य के नायक-नायिका में बदल देता है, जो अनचाहे ही सही, है तो एक सेकुलर दृष्टि। यह मानवीय दृष्टि के साथ साथ आधुनिक चेतना की भी दृष्टि है।

मेरा मानना है कि रीतिस्वच्छंद काव्य की आधुनिकता है उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण। रीतिस्वच्छंद कवियों ने अपनी अनुभूति को महत्त्व देकर, अपने खुद के प्रतिमान बनाये। मानव को मानव रूप में देखा। नैतिक दृष्टि से समाज की जो गत थी उसका चित्र उकेरा। रीतिस्वच्छंद कवियों ने चित्रात्मकता भाषा को आधार बनाया। परंपरागत उपमानों का खंडन किया।

ऐसा नहीं कि आप आज किसी अनुभूति की महसूस कर रहे हैं और कल उसमें सहित्य सर्जन कर रहे हैं। आधुनिक साहित्य तो इसी बात की पैरोकारी करता है। काव्यधारा में घनानंद का एक प्रमुख स्थान है। लोक जीवन की मर्यादा का तिरस्कार कर अपने प्रेम का वर्णन घनानंद ने किया है। डॉ. बच्चन सिंह के अनुसार “वे प्रेम की भावानुभूति, काव्यानुभूति और काव्य भाषा को नए बोध के अनुसार रचते हैं। घनानंद के प्रेम में आत्मानुभूति की प्रधानता है। सौंदर्य व प्रेम इनकी कविता का आधार है।

घनानंद ने स्नेह के मार्ग को अत्यंत सीधा और सरल बताया है, इसमें किसी प्रकार के छल-कपट की गुंजाइश नहीं है। प्रेम तो आत्मदान की वस्तु है। घनानंद आत्मदान तो देते हैं परन्तु सुजान से मिलने की संभावनाओं के नकारात्मक होने पर भी, उसी एकनिष्ठभाव से प्रेम करना चाहते हैं।

जयशंकर प्रसाद ने कहा था-“पागल रे वह मिलता है, कब उसको तो देते ही हैं, सब फिर क्यों उठती है पुकार, मुझको न मिला रे कभी प्यार”

घनानंद परंपरागत उपमानों का भी परिहास करते नज़र आते हैं। जहाँ परवर्ती काव्यकारों ने ये उदघोषणा कि- ये उपमान अब मैले हो गये हैं वहाँ घनानंद भी शास्त्रीय परंपरा में प्रेम के आदर्श मीन पतंग का खंडन करते हैं। कहा जाता है-“बिछूरनी मीन की औ मिलनी पतंग की”। घनानंद कहते हैं कि मीन तो प्रियतम से अलग होकर मर जाता है फिर यह कैसा प्रेम? मीन तो मारा और उसे कष्टों से मुक्ति मिली उसमें विरह सहने की क्षमता नहीं है और पतंगा जो प्रियतम कि छटा को देखकर स्वयं को संभल नहीं पाता, क्या इसे आदर्श रूप कहा जा सकता है? घनानंद यहाँ पर मनुष्य की साधना के महत्त्व को दिखाते हैं और कहते हैं मरिबो मिसराय गने वह तौयह बापुरो मीत तज्यो तरसै, वह रूप छटा न सहारि सकै, /यह तेज तवे चितवै बरसै बिछुरें मिलें/मीन पतंग दस कहा जो जिय कि गति को परसे।

प्रियतम के प्रेम से अलग होकर, विरही मरने के अपेक्षा जीकर बढ़कर पीड़ा पाता है और एस आशा में जीता है कि प्रिय से भेंट होगी। मनुष्य तो प्रिय के रूप तेज से तपता है, फिर भी उसकी रूपछटा देखता रहता है और आंसू बहाता है - “हे रीति आशिकों की तन मन निसार करना, रोना सितम उठाना और उन्हें प्यार करना”

कितनी विचारों में आधुनिकता है कि प्रियतम के संयोग में भी उसके वियोग की आशंका साथ नहीं छोड़ती। क्या आधुनिकता की परिभाषा के दायरे में यह छंद नहीं है- “यह कैसा संजोग न बुझी परे, कि वियोग न कयोंहूँ बिछोहत है”

आज हम जिस अनुभूत दशा और उसके प्रकटीकरण की बात करते हैं और यह उदघोषणा करते हैं कि “poetry is the spontanius flow घनानंद वही कहते हैं -“दुःख देखति हौ घनानंद रैनी दिना बिन जान सुतंतर/जानें वेई दिन रात बखाने ते जाप परे दिन राति को अंतर”

अर्थात् जिस समय वह पीड़ा कही जा रही है उस समय जैसी व्यथा हो रही है, उसके अलावा फिर किसी दिन या रात में जब उसकी अनुभूति की जाएगी तब वैसी अनुभूति नहीं होगी, उसमें दिन-रात का अंतर है। घनानंद ने अपने काव्य में विरोध मूलक शैली को स्थान दिया है। विरोधमूलक शैली का आधुनिकतापूर्ण प्रयोग यहाँ दीखता है-“झूठ की सच्चाई छाक्यों/त्यो हित कचाई पाक्यो”

वह प्रेमी, प्रेम को कच्चा करने में पक्का है और झूठ

को सच्चा करने में लगा रहता है, वह सत्य का निर्वाह करने में निपुण नहीं है, अपितु उसे झूठ कर दिखने में जरूर सच्चा है। रामचंद्र शुक्ल ने कहा था कि “घनानन्द जैसा प्रेम मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक नहीं हुआ”।

घनानन्द मनोवर्गों के प्रवाह में बहकर कविता लिखते हैं। स्वान्तः अनुभव से कविता का सृजन करते हैं। घनानन्द की काव्य की आधुनिकता हमें तब दिखती है जब संयोग काल में घनानन्द की अनुभूति रीति मार्गी कवियों की भांति कुंठित नहीं होती। वह और बढ़ जाती है इसका कारण प्रेम की भावात्मकता है। घनानन्द के विषम प्रेम को अपनाया है। रीतिकाव्य में हमें सम प्रेम दीखता है-“अधिक अधिक ते सुजान, रीति रावरी है, कपट चुगी दे फिर निपट करी बुरी / गुनानी पकरि ले, निपान्ख करि छारी देहु, मरही न जिये, महा विषम दया छुरी.....

यहाँ प्रिय की तुलना एक बहलिये से की गयी है जो कपट करता है- घनानन्द इसे बड़ी बुरी बात मानते हैं। प्रिय ने गुणों के जाल से पकड़कर विरही को पंखहीन कर दिया है। अब वह न मर पाती है न जी पाती है, पता नहीं पीड़ा पहुँचाने से तुम्हें क्या मिलता है?

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी भी विचार को यथावत् अपना लेना या अचेत रूप से धोते रहना गैर आधुनिकता है। घनानन्द के यहाँ हमें यह स्थिति नज़र नहीं आती। घनानन्द के साथ ही सम्पूर्ण रीतिकाल के स्वच्छंदतावादी कवियों के यहाँ हमें यह दृष्टि देखने को मिलती है। आज हमें जरूरत है रीतिकाल को पुनः देखने की। उसकी उन सूक्ष्म विशेषताओं को पकड़ने की जिसको आधुनिकता की दौड़ में हम महज गन्दला घोषित करते रहे। रीति स्वच्छंद कवियों का पूरा साहित्य आधुनिक काल के सभी तत्त्वों का समावेश अपने में करते चलता है। ऐसे में अपने जड़ों को हमे खंगालने की जरूरत है ताकि मात्र शृंगारी का राप अलापना बंद हो।

#### सहायक ग्रंथ-

1. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास
2. बच्चन सिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास
3. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, घनानन्द ग्रंथावली
4. अखिलेश, तद्भव पत्रिका
5. नगेन्द्र, रीतिकाव्य की भूमिका

शोधार्थी हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

#### पृ. 80 का शेष भाग....

#### संदर्भ-

1. सुरेन्द्र वर्मा, तीन नाटक, सेतुबंध, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 35
2. जयदेव तनेजा, आज के हिन्दी रंग नाटक-परिवेश और परिदृश्य, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980, पृ. 19
3. सुरेन्द्र वर्मा, तीन नाटक, द्रौपदी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 102
4. गिरीश रस्तोगी, समकालीन हिन्दी नाटककार, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, 1972, पृ. 67
5. सुरेन्द्र वर्मा, सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ. 22
6. वही, पृ. 52
7. वही, पृ. 54
8. सुरेन्द्र वर्मा, आठवां सर्ग, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1976, पृ. 55
9. वही, पृ. 70
10. वही, पृ. 20
11. सुरेन्द्र वर्मा, एक दूनी एक, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987, पृ. 85
11. रामचन्द्र तिवारी, हिन्दी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2004, पृ. 363
12. सुरेन्द्र वर्मा, एक दूनी एक, पृ. 97
13. सुरेन्द्र वर्मा, शकुंतला की अंगूठी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. 54
14. पूनम राठी, सुरेन्द्र वर्मा के नाटक (द्वन्द्व के संदर्भ में), ज्योति इंटरप्राइसेस, दिल्ली, 2009, पृ. 127

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर-302004 (राजस्थान)

---

## सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में स्त्री

अंकुश गौतम

हिन्दी नाट्य परंपरा में जयशंकर प्रसाद और मोहन राकेश की परवर्ती पीढ़ी में सुरेन्द्र वर्मा एक महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। नये नाटककारों में उनका विशिष्ट स्थान है। ऐतिहासिक कथावस्तु में आधुनिक भावबोध की गहरी पड़ताल, स्त्री-पुरुष संबंधों की सूक्ष्म विवेचना, एक विशिष्ट आभिजात्य वर्ग के संस्कारों की व्याप्ति, रंगमंच की पैनी समझ और जीवंत नाट्य भाषा की सार्थक तलाश उनके नाटकों की मौलिक पहचान है। कथ्य की विविधता और नये रंगमंचीय प्रयोगों से युक्त उनके नाटकों में आदर्श की जगह यथार्थ को अधिक महत्त्व मिला है। अतीत की पृष्ठभूमि पर आधारित होने के बावजूद उनमें आधुनिक भावबोध की सघन अभिव्यक्ति है। समाज में व्याप्त विसंगति बोध, पारिवारिक संबंधों का विघटन, वैयक्तिक जीवन की जटिलता, रचनाकार/कलाकार की अस्मिता एवं राजसत्ता का द्वन्द्व आदि प्रवृत्तियों का यथार्थ चित्रण उनके नाटकों को सामयिक बनाता है। रंगमंच की आवश्यकतानुसार नाट्यधर्मी रंग संकेतों तथा ध्वनि व प्रकाश योजना का उचित निर्देश आदि नये-नये प्रयोग कर उन्होंने नाटक की अनुभूति और संवेदना को सघन बनाया है। इस दृष्टि से हिन्दी नाटक एवं रंगमंच को सुरेन्द्र वर्मा का योगदान अप्रतिम है।

सुरेन्द्र वर्मा की पहचान मूलतः काम संबंधों के नाटककार की है। उनके प्रायः सभी नाटक काम चेतना से अनुप्राणित हैं। 1972 में प्रकाशित 'तीन नाटक' संग्रह (जिसमें सेतु-बंध, नायक खलनायक विदूषक एवं द्रौपदी संकलित थे) से लेकर अद्यतन प्रकाशित 'रति का कंगन' (2011) में उन्होंने मुख्यतः परिवर्तित काम चेतना को ही विभिन्न कथाओं के आवरण में लपेटकर विभिन्न कोणों से बार-बार अभिव्यक्त किया है। इसके चलते उन्हें अपार लोकप्रियता हासिल हुई लेकिन कई बार उनकी तीखी आलोचना भी हुई। उल्लेखनीय है कि काम-संबंधों का चित्रण करते हुए सुरेन्द्र वर्मा ने ऐतिहासिक कथा प्रसंगों का आश्रय लेकर आधुनिक समय व समाज में स्त्री-पुरुष संबंधों की समीचीन व्याख्या की है। इस क्रम में उन्होंने स्त्री अस्तित्व एवं अस्मिता के विविध आयामों को उद्घाटित किया है। अपने नाटकों के माध्यम से उन्होंने

स्त्री को 'वस्तु' की पहचान से मुक्ति दिलाई और 'व्यक्ति' के तौर पर समाज में उसे प्रतिष्ठित किया। उसकी आशाओं-आकांक्षाओं को स्वर दिया, पितृसत्ता के विरुद्ध संघर्ष के लिए सचेत किया। इतना ही नहीं, उन्होंने स्त्री मुक्ति के विमर्श को देह मुक्ति से जोड़ा। प्रस्तुत शोधपत्र में सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आये स्त्री जीवन संदर्भों को विभिन्न पहलुओं से देखने-समझने का प्रयास किया गया है।

'सेतुबंध' (1972) नाटक में सुरेन्द्र वर्मा ने नारी मनोविज्ञान का उद्घाटन करते हुए यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि यदि विवशता के कारण किसी नारी को अनचाहे व्यक्ति से विवाह करना पड़ जाये तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह असंभव नहीं है कि उस नारी के लिए 'परपुरुष पति बन जाये और पति परपुरुष।' इसमें कालिदास और चंद्रगुप्त की पुत्री प्रभावती के परस्पर प्रेम और यौन संबंधों की अवांछनीयता, असामाजिकता से उत्पन्न तनाव, छटपटाहट, बिखराव और त्रासदी को चित्रित किया गया है। पिता के दबाव के चलते प्रभावती की शादी वाकाटक नरेश रुद्रसेन के साथ कर दी जाती है, लेकिन मन से वह कालिदास की बनी रहती है। प्रभावती की भावना अब तक कुंवारी है। वह मां बन गई, लेकिन पत्नी नहीं बन सकी। पति के होते हुए भी वह परपुरुष को चाहती है। पुत्र प्रवरसेन से अपने और कालिदास के प्रेम संबंध को स्वीकारने में वह क्षण मात्र भी संकोच नहीं करती लेकिन प्रवरसेन मां की वेदना को समझने की बजाय द्वन्द्वग्रस्त हो जाता है और अपने जीवन के मूल स्रोत को ढूँढ़ने का प्रयास करता है। वह अपनी मां से कहता है कि 'भावना के बिना शारीरिक संभोग बलात्कार होता है और मैं उसी का परिणाम हूँ।' प्रवरसेन और प्रभावती दोनों ही अपने-अपने स्तर पर अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष करते हैं। प्रवरसेन के द्वन्द्व का कारण मां द्वारा कालिदास विरचित 'मेघदूत' की पांडुलिपि का सबकी नज़रों से छिपाकर रत्न मंजूषा में रखा जाना है। कालिदास सम्राट चंद्रगुप्त के विशेष कृपापात्र और प्रभावती के गुरु थे, इसलिए प्रवरसेन के अन्तर्मन में अनेक प्रकार के सवाल उठते हैं। मां से पवित्रता

का भाव जुड़े होने के कारण वह सोचता है कि परपुरुष आया ही क्यों? क्या कोई रास्ता नहीं ढूँढा जा सकता कि पति-पत्नी के बीच परपुरुष न आये? स्वयं को कालिदास की प्रेयसी का पुत्र मानने की बजाय वह अपने अस्तित्व की तलाश तथा व्यक्तिगत उपलब्धि को अंतर की आंखों से देखने के लिए आकुल हो जाता है।

अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा की पूर्ति हेतु चंद्रगुप्त द्वारा बेटी प्रभावती के प्रेम की बलि चढ़ा देना सिद्ध करता है कि स्त्री केवल एक 'वस्तु' है जिसके सहारे पुरुष अपने नाम, क्षेत्र और समृद्धि का विस्तार करता है। राजनीतिक विवाह के परिणामस्वरूप वह मां बन जाती है किन्तु पत्नी नहीं बन पाती है और यही प्रवरसेन के अन्तर्द्वन्द्व का कारण है। मां-बेटे के संबंध को चित्रित करते इस नाटक में प्रभावती भारतीय स्त्री की परंपरागत आदर्श छवि का अतिक्रमण पर आधुनिक स्त्री के रूप में सामने आती है जो मातृत्व से अधिक महत्त्व स्त्रीत्व को देती है। वह मानती है कि मां बनने मात्र से स्त्री होने का अधिकार समाप्त नहीं हो जाता बल्कि उसे अपनी भावनाओं के साथ जीने का अधिकार है। इसीलिए अपने होने वाले पुत्र (प्रवरसेन) में पति के प्रतिरूप की बजाय प्रेमी कालिदास का व्यक्तित्व चाहती है। प्रवरसेन के जन्म के पूर्व वह यह मान चुकी थी कि उसकी व्यक्तिगत उपलब्धि कुछ नहीं है किन्तु पुत्र जन्म के पश्चात् वह अपने स्वप्न को पूर्ण होते देखती है जिसकी कामना वह किया करती थी। कह सकते हैं कि प्रभावती के जीवन की विवशता, अन्तर्द्वन्द्व और त्रासदी ही उसे अत्यधिक प्रखर बनाते हैं जबकि प्रवरसेन पुरुषवादी सोच के कारण अपनी मां की भावना को समझे बिना व्यंग्य करता है। नाटक का दूसरा स्त्री चरित्र प्रवरसेन की पत्नी विभावती है। स्वभाव से बेहद सीधी-सरल, मृदुभाषी एवं मिलनसार विभावती पति के दुख में दुखी और सुख में सुखी होने वाली एक आदर्श पत्नी है।

'द्रौपदी' (1972) नाटक में महाभारतकालीन द्रौपदी के पांच पतियों के मिथक को आधुनिक जीवन संदर्भ के अनुकूल बिल्कुल नये रूप में प्रस्तुत किया गया है। मानवीय संबंधों के टूटने, बिखरने तथा बदलते नैतिक मूल्यों को केन्द्र में रखकर लिखा गया यह नाटक दिखाता है कि समकालीन परिस्थितियों के दबाव में व्यक्ति कैसे टुकड़ों में बंटकर एक साथ कई जिंदगियां जीने के लिए विवश है। सुरेखा के पति मनमोहन का व्यक्तित्व खंडित है। वह अनैतिक है, महत्वाकांक्षी है, अर्थ लोलुप है, कामुक है और आत्मान्वेषी भी है। उसके ये विभाजित रूप ही सुरेखा के लिए पांच पति बन जाते हैं। मनमोहन के व्यक्तित्व के चार पक्ष नाटक में काला, सफेद,

लाल, पीला नकाब वाले चरित्रों के रूप में दिखाये गये हैं। मनमोहन के इस खंडित व्यक्तित्व के कारण पति-पत्नी का टूटता संबंध और जीवन का तनाव 'घर' को मकान में तब्दील कर देता है। सुरेखा का अन्तर्द्वन्द्व पति और घर के होने-न-होने से उपजा है। उसने 'रेस्टो कैमिकल्स' में उच्च पदस्थ अधिकारी मनमोहन के साथ अपने सपनों का घर बसाया था लेकिन पति का कई स्त्रियों से विवाहेतर संबंध और बच्चों का परस्पर तनावपूर्ण रिश्ता व अपने दोस्तों में मस्त रहना सुरेखा को घर में अकेला कर देता है। इस संदर्भ में जयदेव तनेजा का कथन ध्यातव्य है- "पत्नी औरत थी, बच्चे एकदम पराये और अजनबी। पत्नी को लगता है जैसे उसका पति अब एक व्यक्ति नहीं रहा, वह भीतर ही भीतर खंडित होकर कई व्यक्तियों में विभक्त हो गया है। भाई के लिए बहन और बहन के लिए भाई तथा दोनों के लिए मां-बाप थू! थू! के अतिरिक्त अब कुछ नहीं रहे।"<sup>2</sup>

सुरेखा के जीवन की त्रासदी मंदा और उसके संवादों के जरिए उभरकर सामने आती है। सुरेखा की राय में घर जब भरा-पूरा होता है तब आदमी को अकेलापन बहुत खटकता है। वक्त के साथ सारे रिश्ते धुंधले होते जाते हैं। अपने पति के बारे में मंदा से वह कहती है- "यही कि, जैसे अब वो आदमी एक नहीं एक से ज्यादा है? ....जैसे उसके हिस्से हो गए हैं अलग-अलग और कभी एक से तुम्हारा सामना होता है, कभी दूसरे से।.... जैसे कभी वो दफ्तर में डूबा रहता है, कभी घर में। कभी ऊपर-ऊपर से मुझे छू के ही मन भर जाता है और कभी वो एक-एक बोटी नॉच डालता है मेरी।"<sup>3</sup> सुरेखा और मंदा दोनों के पतियों का अन्य स्त्रियों से संबंध है, यह जानते हुए भी दोनों विरोध नहीं करती हैं और हर कदम पर अनेक समझौते करती हैं, क्योंकि उन्हें घर चाहिए। एक स्त्री के लिए 'घर' को सुरेखा अनिवार्य मानती है, खासकर जब उसके साथ कुछ सहूलियत जुड़ी हो। इसीलिए वह अपनी बेटी अलका को उसके प्रेमी से शादी के बारे में आगे बढ़कर बात करने को कहती है, उसे डर है कि लड़का कहीं हाथ से निकल गया तो...। नाटक में अंजना, कामकाजी स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती एक महत्वपूर्ण चरित्र है जिसे अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए शोषण का शिकार होना पड़ता है। अंजना भीड़ की धक्का मुक्की से ऊब चुकी है। वह अपने को एक चहारदीवारी में कैद करना चाहती है, जहाँ थोड़ी राहत मिल सके। नाटक में अलका एवं वर्षा नई पीढ़ी की प्रतिनिधि हैं जो कॉलेज जाने के बहाने अपने प्रेमियों के साथ फिल्म देखने एवं पार्क में घूमने जाती हैं।

'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक'



(1975) नाटक एक जातक कथा को आधार बनाकर स्त्री-पुरुष संबंधों की समसामयिक तथा सार्वकालिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। गिरीश रस्तोगी की मानें तो “यह हिन्दी में अकेला नाटक है जो वर्जनाओं, पुराने मूल्यों, सामाजिक निषेधों और पति-पत्नी को लेकर बनी हुई अत्यंत नैतिक-पवित्र तस्वीर को तोड़ता है बिना किसी कुंठा के या अपराधबोध के।”<sup>14</sup> इस कथा में रानी शीलवती के निस्संतान होने पर उसके उत्तराधिकार का प्रश्न उठता है। अमात्य परिषद् शीलवती को उत्तराधिकारी को जन्म देने के लिए नियोग की प्रक्रिया अपनाने को बाध्य करती है। इस प्राचीन कथा को नाटककार ने कई कोणों से देखते हुए स्त्री-पुरुष संबंधों के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक आयाम उजागर किये हैं। पुरुष की उपयोगितावादी दृष्टि स्त्री को किस रूप में देखती है और स्त्री पुरुष को किस रूप में लेती है, इन दोनों ही दृष्टियों को नाटक में एक साथ प्रस्तुत किया गया है। एक राजमहिषी का राजप्रांगण में उपस्थित होकर नियोग के लिए निवेदन करना एक विसंगत और लज्जाजनक स्थिति है जिसमें पुरुषों की सामंती मनोवृत्ति ने स्त्री को रहने के लिए बाध्य किया है। पुरुष द्वारा नारी को मातृत्व की गरिमा का उपदेश देने के पीछे भी उसकी उपभोगवादी दृष्टि का छद्म रहता है। यह छद्म उस दृश्य में सामने आता है जहां नियोग की अभ्यर्थना में शीलवती के संकोच को देखकर महामात्य कहते हैं “एक प्रक्रिया में से निकलने भर की बात है औपचारिकता, एक खानापूरी उन कुछ क्षणों के लिए अपने आपको बिल्कुल भूल जायें पलकें मूंद लें, कान बंद कर लें, बिल्कुल ढीला छोड़ दें, शरीर की पांचों इन्द्रियों को अचेतन करके भाव तंत्र को निर्जीव बना लें और मन की आंखों से लगातार केवल भावी परिणाम की ओर देखें अबोध मुद्रा, घुंघराली अलकें, दूधिया दांत नारीत्व की सार्थकता मातृत्व की तृप्ति।”<sup>15</sup>

पुरुष के उपर्युक्त दृष्टिकोण के द्वन्द्व में स्त्री का दृष्टिकोण भी यहां सामने आता है। अमात्य परिषद् के आदेश पर रानी अपने पति राजा ओक्काक के बालसखा आर्य प्रतोष के साथ रात्रि व्यतीत करने के लिए तैयार हो जाती है। यह नया संबंध उसके भीतर दूसरे ही प्रकार का बोध जाग्रत करता है। पुंसत्वहीन पति को कई वर्ष तक झेलते रहने से जो कुंठाएं और दमित कामनाएं मन में एकत्र हुईं, उनकी तुष्टि होती है। वह अनुभव करती है कि पांच वर्ष तक पतिव्रत्य की मर्यादा निभाने में उसे उतना संतोष नहीं मिला था, जितना उसे इस एक रात मिला है। महामात्य के उपदेश का प्रत्युत्तर वह अपनी इस घोषणा से देती है- “नारीत्व की सार्थकता मातृत्व में नहीं महामात्य! है केवल पुरुष संयोग के सुख में। मातृत्व केवल

एक गौण उत्पादन है। जैसे दही से निकलता तो मक्खन है लेकिन तलछट में थोड़ी-सी छाछ भी बच जाती है- शैया पर नारी केवल भोग्या है, मातृत्व की आकांक्षिणी मात्र नहीं।”<sup>16</sup> यहाँ शीलवती का चरित्र एक सामान्य पारंपरिक नारी से विकसित होकर मर्यादा के विरुद्ध संघर्ष करने वाली नारी के रूप में प्रस्तुत होता है। शीलवती पहले तो स्वयं को ‘औषधि’ (वस्तु) के रूप में इस्तेमाल होने का विरोध करती है किन्तु आर्य प्रतोष के साथ रात बिताने के पश्चात् धर्म, मर्यादा, शील को मिथ्या आडंबर मानते हुए उन्हें सिर्फ पुस्तकीय ज्ञान की संज्ञा देती है। वह आधुनिक विचार सम्पन्न स्त्री है जो अपने अस्तित्व की सार्थकता अर्पण में नहीं स्वीकारती।

यह नाटक विवाहेतर प्रेम संबंधों के साथ-साथ यौन संबंधों के चित्रण का भी उपक्रम करता है। शीलवती का यह कथन प्रकारांतर से स्त्री-पुरुष संबंधों की सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक स्थिति का बयान करता है- “स्त्री-पुरुष संबंधों का मूलाधार क्या है? रति या काम सुख, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। इसी सुख की चाह में कितनी युवतियां हैं जो ब्याह से पहले ही कुमारी नहीं रहतीं, कितनी निरोध औषधि के बल पर इस अनुभव की आवृत्ति कर रही हैं और कितनी अन्यान्य बहानों से उपपत्तियों से जुड़ी हैं।”<sup>17</sup> यह नाटक दाम्पत्य के तनावपूर्ण संबंधों, जटिल परिस्थितियों और संत्रास को मनोवैज्ञानिक गहराइयों में उतरकर सामने लाता है। पुरुषत्वहीन ओक्काक और यौन संबंध की दृष्टि से असंतुष्ट शीलवती वर्षों तक साथ-साथ रहने पर भी एक-दूसरे को नहीं समझ पाते, न ही अपनी अतृप्त कामनाओं को ही जान पाते हैं। दोनों के अनजान रूप एक-दूसरे के समक्ष तब प्रकट होते हैं जब उन्हें नियोग का निर्णय लेना पड़ता है। ओक्काक की आकांक्षा और उससे उत्पन्न द्वन्द्व यहां सामने आता है। वह अपनी नपुंसकता और पत्नी के प्रति दायित्व में तालमेल बैठाने में असमर्थ एक वर्जित स्वर बनकर रह जाता है। वहीं शीलवती पत्नीत्व और स्त्रीत्व के विकट द्वन्द्व में आ घिरती है।

‘आठवां सर्ग’ (1976) नाटक में कालिदास के ‘कुमारसंभव’ महाकाव्य के आठवें सर्ग को आधार बनाकर स्त्री-पुरुष संबंधों के चित्रण में अश्लीलता और लेखकीय अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रश्न उठाया गया है। ‘कुमारसंभव’ के आठवें सर्ग में शिव-पार्वती की पति-पत्नी के रूप में विलास क्रीड़ाओं का स्वच्छंद चित्रण है, ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार जिस पर तत्कालीन तथाकथित विद्वत वर्ग द्वारा अश्लीलता के आक्षेप लगे थे। धर्म और नैतिकता की आड़ में इस प्रकार के कुत्सित आक्षेपों से महाकवि को जिस पीड़ा और वेदना के दौर

से गुज़रना पड़ा था, उसी व्यथा को समकालीन संदर्भों में प्रस्तुत कर 'आठवां सर्ग' लिखा गया है। नाटक में पूर्वाग्रहों और हीन भावनाओं से ग्रस्त लोगों की ओछी मानसिकता पर तीखा व्यंग्य है जो किसी रचनाकार की श्रेष्ठ रचना के भावतंत्र को समझे बिना ही उस पर अश्लीलता का आरोप मढ़ देते हैं। "पति-पत्नी के बीच कुछ भी अश्लील नहीं होता, क्योंकि वह पूरी तरह देने और पूरी तरह पाने का संबंध है। इसमें अश्लीलता उसी को मिलेगी जिसकी दृष्टि अधूरी होगी अर्थात् जो केवल नग्नता देखेगा, उसे औचित्य देने वाली पूर्णता नहीं, सार्थकता नहीं।" यह मानते हुए भी सम्राट चंद्रगुप्त कालिदास से रचना में कतिपय संशोधन करने को कहते हैं। रचना में अश्लीलता की पड़ताल के लिए साहित्येतर व्यक्तियों की न्याय समिति गठित होती है जिससे क्षुब्ध होकर कालिदास ग्रन्थ की रचना आठवें सर्ग के बाद रोक देते हैं। कालांतर में 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' और 'रघुवंश' के कृतित्व के कारण जब उनका अभिनंदन किया जाता है तो उस आयोजन में वे स्वयं अनुपस्थित रहते हैं क्योंकि "रचना का संतोष... देश के कोने-कोने से दर्शकों की साझेदारी...भावोपलब्धि के बाद की उनकी निरंतर चलती करतल ध्वनि..."<sup>9</sup> ही उनकी दृष्टि में वास्तविक सम्मान है।

नाटक में उमा-महादेव के मिथकीय कथा संदर्भ का आश्रय लेकर स्त्री-पुरुष संबंधों की आधुनिक व्याख्या सामने आती है। कालिदास और उनकी पत्नी प्रियंगुमंजरी के बहाने दाम्पत्य संबंधों का गहन विश्लेषण नाटक की उपलब्धि है जो कालिदास के प्रामाणिक अनुभवों से स्वतः सिद्ध है। पति के सुख-दुःख में सहभागी एवं उसके रचनाकर्म से सदैव अवगत रहने वाली प्रियंगुमंजरी जब कालिदास से आठवें सर्ग के श्लोक सुनती है तो उमा-महादेव की उद्दाम काम क्रीड़ाओं में उसे अपने अंतरंग जीवन की परतें खुलती प्रतीत होती हैं। पारंपरिक भारतीय स्त्री अपने अंतरंग संबंधों को सार्वजनिक करने में लज्जा का अनुभव करती है, प्रियंगु को लगता है कि सभा में इस सर्ग के पाठ के दौरान वह लोगों का कैसे सामना करेगी। वह कालिदास को उलाहना देती है कि इस सर्ग को ब्याह के पहले क्यों नहीं लिखा। वह सम्मान समारोह में न जाने का निश्चय करती है लेकिन वहां की जानकारी के लिए उत्सुक रहती है। समारोह में कालिदास के अपमान और सभा त्यागकर कहीं चले जाने की बात सुनकर वह विचलित हो जाती है। यह प्रियंगु 'आषाढ का एक दिन' की प्रियंगुमंजरी की तरह रूपगर्विता और अभिमानी नहीं है, बल्कि अपने बेचैन पति के मन को बहलाने के लिए तरह-तरह के यत्न करती है। कालिदास अकेले रहने की बात करते हैं तो वह

साथ रहने का हठ करती है। सामान्य स्त्री की भांति वह शकुन-अपशकुन में विश्वास करती है। अपने अन्तर्मन की पीड़ा को वह चित्रों के माध्यम से उकेरती है। प्रकृति से गहरा लगाव, पशु-पक्षियों के प्रति संवेदनशील व्यवहार तथा अपनी परिचारिकाओं के प्रति स्नेह-अधिकार भाव उसके व्यक्तित्व के अन्य आयाम हैं। नाटक में अनसूया और प्रियंवदा, प्रियंगु की सखी व परिचारिका दोनों हैं। इनके व्यक्तित्व में स्त्री-पुरुष संबंधों को जानने की इच्छा व कौतूहल साफ दिखता है। अपनी स्वामिनी प्रियंगु के अंतःपुर की गतिविधियों के बारे में जानने की उत्सुकता उनके संवाद में झलकती है। प्रियंवदा काम-कला विशेषज्ञ के साथ-साथ प्रेम संबंधों में प्रवीण है। सारिका को आहार देने गई अनसूया की उंगली जब उसने काट ली तो प्रियंवदा कहती है- "ब्याह के बाद बड़ी आसानी रहेगी, अगर अभी से दंतक्षत का अभ्यास हो जाएगा तो!... .. क्योंकि मैं दूसरों के अनुभवों से लाभ उठा रही हूँ।"<sup>10</sup>

'एक दूनी एक' (1987) नाटक में दो पात्रों (आदमी, औरत) के माध्यम से आज के शहरी जीवन एवं वातावरण में उपजे स्त्री-पुरुष संबंधों की विवाह संस्था के परिप्रेक्ष्य में गहरी पड़ताल है। एक ओर 'क्यूपिड डिटेक्टिव एजेंसी' का संचालक, अपने पुराने प्रेम प्रसंगों से आक्रांत कुंवारा पुरुष जो बेवफाई के मामलों की पड़ताल करते-करते विवाह संस्था के प्रति सशंकित हो चुका है। दूसरी ओर 'कोलम्बस ट्रेवेल्स' में कार्यरत स्त्री लिली उपभोक्तावादी संस्कृति का हिस्सा बन जाने के बाद भी अपने स्त्री सुलभ गुणों को खोना नहीं चाहती है। उसके भीतर स्वच्छंद यौनाचार का भाव है। वह कुंठित व अकेली स्त्री है जिसका पूर्व प्रेमी उसे छोड़ चुका है। वह पुरुष से एक पार्टी में मिलती है और पहली मुलाकात में ही आलिंगनबद्ध हो जाती है। बार-बार मुलाकात के चलते लिली को उससे प्रेम हो जाता है। अब वह पुरुष पर अपना हक जताती है। उससे अलग नहीं होना चाहती बल्कि विवाह करना चाहती है, और जब वह विवाह से इंकार करता है तो वह टूट जाती है, गालियां बकती है। कभी वह पुरुष पर खूब प्यार उड़ेलती है तो कभी टांग टूटने और खटमल बन जाने का श्राप देती है। दरअसल एक सुरक्षित जिंदगी जीने के लिए उसे एक पुरुष की जरूरत है जिसे स्वीकारते हुए उसका कहना है- "मुझे बारिश में बहुत उदास लगता है... पर अभी नहीं... तुम पास हो न! तुम पास हो तुम्हारी सांसों का अहसास... तो मैं किस तरह महफूज महसूस कर रही हूँ... तुम न होते तो मैं गुड़ी-मुड़ी होकर बिस्तर में घुसी होती।"<sup>11</sup> वस्तुतः लिली आधुनिक स्त्री का वह प्रतिरूप है जो जीवन की रिक्तता व अकेलापन दूर करने के लिए एक स्थायी पुरुष की

तलाश कर रही है। बकौल रामचन्द्र तिवारी “इस नाटक में एक ऐसे व्यक्ति को प्रस्तुत किया गया है जो काम संबंधों के द्वारा दूसरे से जुड़ना चाहता है किन्तु जुड़ नहीं पाता। अर्थात् उसकी जिंदगी का पहाड़ा एक दूनी दो न होकर ‘एक दूनी एक’ रह जाता है।”<sup>12</sup> यह सच पुरुष इन शब्दों में स्वीकार करता है-“तुम्हें यह समझने में मुश्किल नहीं होनी चाहिए कि मैं अभिशप्त हूँ, न मैं खुशी पा सकता हूँ, न दे सकता हूँ। मैं अपने अकेलेपन के किले में रो-रोकर जीने के लिए अभिशप्त हूँ।”<sup>13</sup>

‘शकुंतला की अंगूठी’ (1990) नाटक में कालिदास विरचित ‘अभिज्ञान शाकुंतलम्’ नाटक की कथा एवं पात्रों का आधार लेकर वर्तमान समाज में स्त्री-पुरुष संबंधों में हो रहे बदलाव का चित्रण हुआ है। शकुंतला और दुष्यंत की प्रेमकथा के बहाने आज के मशीनी युग में व्यक्ति के अकेलेपन, स्त्री-पुरुष संबंधों की नियति एवं जीवन के तनावों व मूल्यों के पतन को समानांतर प्रस्तुत किया गया है। इसमें नाटक के पात्र मंच पर कालिदास के ‘अभिज्ञान शाकुंतलम्’ का रिहर्सल करते हैं। इस क्रम में उनका अपना जीवन यथार्थ भी दृश्यांकित होता चलता है और आधुनिक दुष्यंत व शकुंतला उभरकर सामने आते हैं। शकुंतला की भूमिका निभा रही कनक, दुष्यंत की भूमिका निभा रहे अभिनेता-निदेशक कुमार से प्रेम करती है। जब कुमार को अमेरिकन थियेटर की स्टडी के लिए फेलोशिप मिलती है, वह कनक को छोड़कर अमेरिका चला जाता है। इससे आहत होकर कनक नाटक में मछुआरे का अभिनय कर रहे सुदर्शन के साथ घर बसा लेती है।

शकुंतला की ही तरह कनक पहली नजर में कुमार पर आसक्त होती है पर वह अपने प्रेम को छुपाती नहीं बल्कि खुलकर इजहार करती है- “तेरे मन की बात मैं नहीं जानती लेकिन मेरे मन को रात-दिन प्रेम की ज्वाला बुरी तरह तपाती है।”<sup>14</sup> कनक इसके पूर्व नील से प्रेम में धोखा पा चुकी है, इसलिए कुमार से शीघ्र ही शादी करना चाहती है। लेकिन कुमार तरह-तरह के बहाने बनाकर शादी करने से बचता है। कुमार के लिए घर-परिवार, बाल-बच्चे जरूरी नहीं हैं। दूसरी ओर कनक विवाह पूर्व यौन संबंध से धारण किये गए गर्भ को जीवन का अभिशाप नहीं मानती बल्कि कुमार द्वारा शादी से इंकार करने पर गर्भपात कराकर उसे मुक्त कर देती है। पारंपरिक स्त्री की तरह वह अपने अतीत पर पश्चाताप नहीं करती अपितु कुमार से अंगूठी वापस लेकर सुदर्शन को पहना देती है। कनक वह शकुंतला नहीं है जो दुष्यंत के विरह में तड़पती और सारे दुखों को अकेले ही झेलती रही। विरह में तड़पने की जगह वह मुक्त होने में विश्वास करती है। यहां

डॉ. पूनम राठी का विश्लेषण ध्यान देने योग्य है-“आज के युग में कोई भी किसी से कभी भी संबंध जोड़ने को उत्सुक और तत्पर दिखलाई देता है। कनक को नील से अपनत्व की टूटन मिलती है। कुमार को वह स्वयं छुटकारा दे देती है। वह ऐतिहासिक शकुंतला की भांति अपने जीवन को नियति पर छोड़ नील या कुमार के लिए आंसू नहीं बहाती अपितु सुदर्शन को चुन लेती है।”<sup>15</sup>

‘रति का कंगन’ (2011) नाटक में स्वार्थपूर्ण स्त्री-पुरुष संबंधों को शैक्षणिक संस्थानों की दूषित राजनीति के आलोक में प्रस्तुत किया गया है। मल्लिनाग नामक शोधार्थी ‘गीता’ पर शोध करता है लेकिन अकादमिक जगत में व्याप्त मनोदैहिक दुरवस्था का शिकार होकर धनोपार्जन के लिए उसे ‘कामसूत्र’ की रचना करनी पड़ती है और अनेक समस्याओं से जूझना पड़ता है। लवंगलता और तुंगभद्र के माध्यम से नाटककार ने विश्वविद्यालयों में चल रहे अनैतिक कार्यों एवं गुरु-शिष्य संबंधों का विकृत रूप उजागर किया है। पद और प्रतिष्ठा पाने के लिए लवंगलता दर्शन विभाग के अध्यक्ष तुंगभद्र के समक्ष स्वयं को समर्पित करती है, उसकी दमित वासना का शिकार होती है लेकिन अपना अभीष्ट पाने के बाद वह इस बूढ़े प्रेमी से मुक्ति चाहती है क्योंकि इस संबंध में अब उसे अतृप्ति, अकेलेपन व घुटन का अनुभव होने लगा है। वह अपने शिष्य मल्लिनाग की ओर आकर्षित होती है। तुंगभद्र को यह अच्छा नहीं लगता और वह परीक्षकों पर दबाव बनाकर मल्लिनाग के शोध प्रबंध को अस्वीकृत करवा देता है। मल्लिनाग शिक्षा विभाग में शिकायत करना चाहता है तो लवंगलता उस पर बलात्कार का आरोप लगाने की धमकी देती है। तुंगभद्र, लवंगलता व मल्लिनाग शोध कर्म से जुड़ी तीन पीढ़ियों के प्रतिनिधि हैं जिनके बीच का परस्पर स्वार्थपूर्ण संबंध अकादमिक दुनिया के गलीज कार्यव्यापारों एवं द्वेषपूर्ण मानसिकता का कच्चा-चिट्ठा पेश करता है। मल्लिनाग की विवशता का लाभ उठाकर प्रकाशक-संदीपन उससे ‘कामसूत्र’ की रचना करवाता है। ‘कामसूत्र’ की अत्यधिक बिक्री होने के बावजूद उसके हिस्से की रॉयल्टी नहीं देता। मल्लिनाग के ‘कामसूत्र’ पर ‘दुराचार का गौरव ग्रंथ’ होने का आरोप लगाया जाता है और मल्लिनाग को अभियोगी के रूप में राजकर्मचारी गिरफ्तार करते हैं। यह नाटक प्रकारांतर से समाज में व्याप्त शाश्वत काम चेतना का निदर्शन भी कराता है क्योंकि प्रायः सभी स्त्री-पुरुष पात्र इसी मानसिकता से परिचालित हैं।

सुरेन्द्र वर्मा ने अपने कतिपय नाटकों में स्त्री-पुरुष संबंधों के विश्लेषण की अपनी परिचित भूमि से बाहर आकर व्यापक जीवन संदर्भों का साक्षात्कार किया है। ‘नायक खलनायक

विदूषक' (1972), 'छोटे सैयद बड़े सैयद' (1982) और 'कैद-ए-हयात' (1993) इसी श्रेणी के नाटक हैं। 'नायक खलनायक विदूषक' नाटक में ऐतिहासिक कथा संदर्भ में आज के मनुष्य की नियति तथा आकांक्षा के संघर्ष को दर्शाया गया है कि परिस्थितियों किस प्रकार व्यक्ति को विवश करके अनेक रूपों में आचरण करने के लिए बाध्य कर देती है। कर्पिंजल के माध्यम से कलाकार की ऊब और नीरसता को तीखे ढंग से व्यक्त किया गया है। विदूषक का अभिनय करने वाला कर्पिंजल अब विदूषक नहीं बनना चाहता लेकिन हर बार उसे यही भूमिका करने के लिए मजबूर किया जाता है। विदूषक की भूमिका की इस लक्ष्मण रेखा को पार कर वह नायक, खलनायक सभी भूमिकाएं करने को तैयार है। दरअसल वह मंच पर भिन्न-भिन्न पात्रों के माध्यम से जीवन को समझना चाहता है लेकिन राजा पुष्यभूति अर्थात् शासन के आगे उसकी इच्छाओं का कोई महत्व नहीं रहता। 'छोटे सैयद बड़े सैयद' नाटक में मुगल सम्राट मुहम्मद शाह के समय की अस्थिर, घृणित, स्वार्थ प्रेरित और कुटिल राजनीतिक गति-विधियों के माध्यम से आधुनिक राजनीतिक अस्थिरता और स्वार्थपरता की ओर संकेत किया गया है। इसमें बड़े सैयद जैसे लोग राष्ट्र हित के लिए सब कुछ करते हैं जबकि छोटे सैयद जैसे लोग राष्ट्र हित को ताक पर रखकर अपने राजनीतिक हितों एवं स्वार्थों की पूर्ति में लगे रहते हैं। 'कैद-ए-हयात' उर्दू के प्रख्यात शायर मिर्जा गालिब के जीवन पर आधारित नाटक है जिसमें शायर के संघर्षपूर्ण जीवन संदर्भों को तत्कालीन देशकाल की जटिलताओं के साथ रेखांकित किया गया है। मिर्जा गालिब में किसी भी परंपरा तोड़ने वाले रचनाकार के तनाव भरे जीवन की झलक देखी जा सकती है। गालिब की पत्नी उमराव उनसे इसलिए नाखुश है कि घर की खराब माली हालत की ओर गालिब का कोई ध्यान नहीं, वे तो बस अपनी शायरी में मग्न रहते हैं। इसके बावजूद उनकी शायरी की लोगों में पहचान या कद्र नहीं है, केवल परवेज़ और कातिबा ही उसकी अहमियत समझते हैं। कातिबा मिर्जा की प्रेमिका है जो बुरे वक्त में भी उनका साथ देती है। गालिब की शायरी को वह 'दीवान' में लिपिबद्ध करती है। मुशायरे में गालिब की उपेक्षा होने पर वही उन्हें हौसला देती है। उमराव से उसे कोई ईर्ष्या नहीं है बल्कि मर कर वह उसकी दुनिया से दूर चली जाती है। मिर्जा चाहकर भी कातिबा से अंतिम समय मिलने नहीं जा पाते। वहीं उमराव कातिबा को जरा भी बर्दाश्त नहीं कर पाती। इस तरह नाटक में गालिब एक तरफ रचनाकार के संघर्ष और तनाव को झेलते हैं तो दूसरी ओर प्रेम त्रिकोण के द्वन्द्व को।

इस प्रकार सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में स्त्री अस्तित्व एवं अस्मिता के विभिन्न मुद्दों पर मनोविश्लेषणात्मक ढंग से गंभीर विमर्श देखने को मिलता है। नाटककार ने ऐतिहासिक-पौराणिक स्त्री पात्रों के माध्यम से समसामयिक स्त्री की समस्याएं ही नहीं, आदर्श और यथार्थ को लेकर उसका द्वन्द्व भी दिखाया है। एक ऐसे समाज में जहाँ धर्म, नैतिकता आदि अन्यान्य तरीकों से स्त्री की भावना को कुचलने की साजिश रची जाती है तथा स्त्री को 'वस्तु' की तरह इस्तेमाल किया जाता है, सुरेन्द्र वर्मा की स्त्रियाँ सड़ी-गली, अंधी परम्पराओं को सिरे से नकारती हुई न सिर्फ नये मूल्यों की स्थापना करती हैं अपितु 'वस्तु' के रूप में इस्तेमाल किये जाने का विरोध कर 'व्यक्ति' के रूप में स्वयं को प्रतिष्ठित करती हैं। सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में चित्रित स्त्री की मांगों और आकांक्षाएं बहुत उलझी हुई हैं। उसे केवल एक टुकड़े बरामदे और छत पर जाने वाली सीढ़ी नहीं चाहिए वरन् आर्थिक आत्मनिर्भरता, भौतिक दैहिक सुख, भावनात्मक साहचर्य, समाज में मान-प्रतिष्ठा और मानसिक सुख-शांति सभी कुछ चाहिए। मां, बहन, पत्नी और सहचरी के रूप में अस्तित्व तलाशने की बजाय 'व्यक्ति' रूप में तलाश रही है। वर्षों से दबे अपने सपनों को पूरा करने की होड़ में वह सारी सीमाओं-तटबंधों को तोड़ते हुए संस्थानों से टकराती है। इस टकराव में खुद टूटती नहीं बल्कि संस्थान से बाहर निकल उन्हें चुनौती देती है। इनके नाटकों में स्त्री पहली बार देह की मांग को स्वीकारती है। अतृप्ति के कारण वह परपुरुष का वरण करने से भी नहीं हिचकती। यद्यपि स्त्री का यह देह राग केवल सेक्स के पर्याय के रूप में नहीं, विस्तृत एवं उदात्त रूप में सामने आता है। वस्तुतः देह सुख की आकांक्षा समकालीन स्त्री की सामूहिक मांग है जो उसे स्वतंत्र व्यक्तित्व प्रदान करती है। स्त्री जीवन की सार्थकता मातृत्व में नहीं, स्त्रीत्व में है। मातृत्व एक गौण उत्पादन है। केवल मां बन जाने से स्त्री पूर्ण नहीं होती, उसकी अपनी आवश्यकताएं भी हैं जिसके बिना वह अपूर्ण है। कहना न होगा कि सुरेन्द्र वर्मा अपने नाटकों के जरिए स्त्री मुक्ति के प्रखर प्रवक्ता बनकर उभरते हैं। स्त्री-पुरुष संबंधों को लेकर उनके पहले और बाद में अनेक नाटक लिखे गये व लिखे जा रहे हैं किन्तु ऐसा लेखकीय साहस किसी दूसरे नाटककार ने अब तक नहीं दिखाया है। न कोई उनकी शैलीगत विशेषताओं को अपना सका है और न वैसा कथ्य व भाषा का तनाव और नाटकीय अन्तर्द्वन्द्व अन्यत्र देखने में आया है।

**शेष पृ. 74 पर.....**